भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध, स्वामिजगाती

0 2·3

सादर सप्रेम भेंट

प्रत्येक आर्य नर-नारी के पढ़ने योग्य

दयानन्द-दीक्षाशताब्दी—गुरुवर मुनि विरजानन्द के स्मृति-
के पवित्र अवसर पर यह साधारण सी भेंट उपस्थित करते
बड़ा हर्ष हो रहा है। हम समझते हैं कि प्रत्येक आर्यबन्धु—
वृद्ध युवा जो भी उक्त महान् आत्माओं के प्रति सच्ची श्रद्धा-
ता है, वह इन संकलित विचारों से ऋषि प्रणाली की सच्ची
ो प्राप्त कर अवश्य अनुप्राणित होगा। मथुरा से लौट कर ऋषि
की प्रेरणा—आगे के लिए उस पर आरूढ़ होने की भावना
थुरा यात्रा की सफलता होनी चाहिए। अतिशीघ्रता में ये
आर्य जनता की सेवा में समर्पित किये जा रहे हैं।
ु कृपा करें कि हम आर्ष ज्योतिः से अनुप्राणित हों !!

सं० २०१६ वि०
१-१२-५९

वैदिक धर्म का सेवक
ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

तमसो मा ज्योतिर्गमय !!

भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध, ऋषिप्रणाली

देवस्य पश्य काव्यम् ।
न ममार न जीर्यति ।। अथर्ववेद ॥१०।८।३२॥

भावार्थ—अरे मानव! महा (परम) देव प्रभु वा महापुरुष (ऋषि) की कृति-रचना को ही पढ़ो। तभी तुम नष्ट न होगे, और न जीर्ण-शीर्ण ही !!!

भारतीय संस्कृति—आर्य-संस्कृति (हिन्दू-संस्कृति) का मूलाधार उसका साहित्य है। इसमें भी भारतीय शास्त्र मुख्य है। प्राचीन प्रणाली का कुछ न कुछ आश्रय लेकर चलाये जानेवाले गुरुकुलों, विद्यालयों, आधुनिक विश्वविद्यालयों वा विद्यापीठ आदि में समावर्त्तन वा कन्वोकेशन के अवसर पर जो उपदेश अन्त समय में स्नातक को दिया जाता है, वह प्रायः सर्वत्र तैत्तिरीयोपनिषद् के आधार पर ही दिया जाता है, जो निम्न प्रकार है—

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद । धर्मं चर ।......यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम्" ॥ तै० उ० ७।११।१-४ ॥

अर्थात्—वेद वा विद्या समाप्ति में आचार्य अपने अन्तेवासी (शिष्य) को निम्न प्रकार उपदेश करता है—"सत्य का व्यवहार करना । धर्म का आचरण करना ।......यदि तुम्हें अपने जीवन में किसी समय संशय उत्पन्न होने लगे कि मुझे अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं, वा अमुक व्यवहार मेरे लिए कर्त्तव्य है, या अकर्त्तव्य, यह विचिकित्सा (संशय) उत्पन्न हो जावे, तब तुम ऐसा करना कि उस विषय में जो ब्रह्मवित् (वेद के ज्ञाता–ब्रह्मज्ञानी)—विचारवान्—योगी—तपस्वी—निःस्वार्थी—धर्मपरायण हों । उक्त विषय में जैसे वे आचरण करें, तुमने भी उस विषय में वैसा ही आचरण करना । यही आदेश है, यही उपदेश है । यही वेद-शास्त्र की आज्ञा है । यही अनुशासन है । यही करने योग्य है, इसका ही तुम्हें पालन करना है" ॥

इससे सिद्ध है कि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति हमें मानव-जीवन में सदैव शास्त्रों का आश्रय (सहारा) लेने का प्रबल उपदेश करती है । देश स्वतन्त्र हो गया है । भारतीयता से ही भारत जीवित रह सकता है । इसके बिना इसकी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं, अर्थात् इसकी स्वतन्त्रता अपनी संस्कृति-साहित्य-सभ्यता के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती है ॥

जब हम देश की वर्त्तमान अवस्था पर विचार करते हैं, तो सहसा निराशा-सी होने लगती है । यह विचार उठता है कि इस पवित्र भूमि भारत में उत्पन्न हुये हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों की सुदीर्घ काल की सब

तपस्या क्या व्यर्थ ही जायगी। अन्तरात्मा से ध्वनि उठती है कि नहीं। उनकी तपस्या तो व्यर्थ नहीं जा सकती, हाँ हमें धीरे-धीरे परिश्रम करना होगा। पूण्यभूमि इस भारत में उत्पन्न हुये वैशम्पायन—जैमिनि—पाणिनि—गौतम—कणाद जैसे मुनियों, की तपस्या व्यर्थ नहीं जायेगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस समय हमारे देश का नैतिक पतन कहाँ तक हो चुका है, दूसरे शब्दों में भारत का रोग कहाँ तक बढ़ चुका है, रोग जान लेने पर, अर्थात् निदान हो जाने पर ही चिकित्सा-उपाय सोचा जाना सम्भव है। अतः इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की स्थिति

देश हमें खण्ड-खण्ड प्राप्त हुआ। जैसे किसी शरीर को कोई चोर या डाकू इतना आहत कर फेंक जावे कि वह किसी काम का न रह जावे, यदि जीवित भी रहे तो आयु भर उठ न सके, या तो रोता रहे, या आत्मघात कर ले, यही दशा भारत की अङ्गरेजों ने जाते समय की। ऐसी घोर हत्याएँ, सम्पत्ति की अनुपम लूट, स्त्रीजाति के पवित्र सतीत्व और मानमर्यादा का घोरतम अपहरण हुआ, जिसकी उपमा संसार के इतिहास में खोजने से भी नहीं मिल सकती। भारतरूपी वस्त्र के फाड़-फाड़ कर दो-चार नहीं, सैकड़ों की संख्या में चिथड़े-चिथड़े कर दिये गये, इस आशा पर कि न यह वस्त्र (भारत) जुड़ सकेगा, न शक्ति बढ़ेगी, अन्त में बृटिशराज्य के चरणों में आकर स्वयं गिरेगा॥

उधर हमारी अवस्था यह थी (और है) कि भारत की स्वतन्त्रता-रूपी नौका के खेवा खेंच ले चलनेवाले—नाविक अनाड़ी रहे, जिनको जीवन में जेलों में जाने भर का अनुभव था। राज्य चलाने का लेशमात्र भी अनुभव न था। होता भी कैसे, बाप-दादा ने राज्य थोड़े ही किया था, सारा जीवन गुलामी में ही तो बिताया था। न इन्होंने आगे के

लिए मार्जन ही रखा कि सीखे नहीं हैं तो चलो अब सीखने का यत्न करें। अपने से अधिक योग्य–अनुभवी–निष्काम–निःस्वार्थ–सदाचारी–तपस्वी–गम्भीर विचारक, विद्वान् , जो ब्राह्मण वा संन्यासी की परिभाषा में आते हों, चाहे वे किसी वर्ण-जाति वा प्रान्त के हों, जो राज्य के वेतनभोगी न हों, ऐसी महान् आत्माओं से अपनी कमियों वा त्रुटियों को समझने का यत्न करते (वा करें) तो इनका ज्ञान बढ़ता, मार्ग की विघ्न-बाधाओं का ज्ञान होता। कितना भी योग्य व्यक्ति हो, उसे अपनी भूलों का ज्ञान स्वयं बहुत कम हो पाता है।

मोरी नाव कैसे उतरे पार !
वार पार कोऊ घाट न सूझत, आन पड़ी मँझधार।
बिजली चमके बादल गरजे, उलटी चलत है ब्यार॥
गहरी नदिया नाव पुरानी, नाविक हैं मतवार॥

हमारा पौण्डपावना (जो ऋण हमने इङ्गलैण्ड से लेना था) लगभग समाप्त हो चुका है। हमारी बरखुरदारी तो यह थी कि हम अपने बाप-दादा की कमाई में कुछ वृद्धि करते, तब हमारी योग्यता समझी जाती। पर हमने तो उलटा उसी को समाप्त करने पर कमर बाँध ली। ये किसी भी देश के लिए अच्छे लक्षण नहीं कहे जा सकते॥

घोरतम पतन

इधर देश का इतना घोरतम पतन हो रहा है कि सर्वसाधारण जनता में बिना किसी सङ्कोच के प्रायः सर्वत्र ऐसी भावनायें परस्पर की बातचीत में सामने आ रही हैं, जिनकी कोई सीमा नहीं। चलते-फिरते सर्वसाधारण की ऐसी ध्वनि कानों में सुनाई देती है। मिनिस्टरों तक में कहीं-कहीं घूसखोरी अपने सगे-सम्बन्धियों को अनुचित लाभ पहुँचाने की बातें सुनाई पड़ती हैं। कांग्रेसी सब नहीं तो ९० प्रतिशत सिफारिशों द्वारा धनसंग्रह में घोर रत हैं। किसी भी विभाग में छोटे से लेकर बड़ा कर्मचारी तक, एकदम प्रायः मगरमच्छ की तरह मुँह फाड़े बैठा

दिखाई देता है कि कुछ न कुछ कहीं से मुख में पड़े। अफसरों में ७५ प्रतिशत तो इसी टाइप के होंगे। हर कोई अपने-अपने स्थान पर बैठा प्रतिक्षण प्रतिदिन इसी ताक में दृष्टिगोचर होता है कि वेतन से कहीं अधिक ऊपर की (आकाश से गिरनेवाली पाप की कमाई) आमदनी अधिक से अधिक कैसे आवे ॥

यदि कोई ईश्वरभक्त या देश का सच्चा सेवक-राजकर्मचारी या कांग्रेसी ऐसा नहीं करता, उसकी सुनवाई नहीं होती, मूर्ख समझा जाता है। यदि एक सच्चा मिनिस्टर (मन्त्री) किसी को काम की आज्ञा वा स्वीकृति देता है तो जब वह आगे आफिस में जाता है तो उसे उस सरकारी सहायता वा लाभ में मिलनेवाली धनराशि का ५० प्रतिशत (कहीं-कहीं इससे भी अधिक) नीचे के अफसरों क्लर्कादि की भेंट में देना पड़ता है। व्यापारी वर्ग भी उस बचे हुए ५०—४० प्रतिशत में ही अपना बहुत कुछ बनता देखकर [क्योंकि वह घूस देता तभी है] फिर घोर भ्रष्टाचार (ब्लैक) द्वारा जनता से उसकी कमी को ही पूरा नहीं करता, अपितु कई गुणा अधिक लाभ उठा, जनता का ही शोषण करता हुआ अपना घर भरता है। अब तो उसे परमिट (ऐसा करने की छूट) मिल ही चुकी है, ऐसा वह समझता है। जब प्रहरी ही चोरी करने लग जावे, तो उस घर का भला क्या बचना है। हमारा कितना घोर नैतिक पतन हो रहा है, जिसकी कोई सीमा नहीं। रुपये के बल पर बड़े-बड़े अपराधी प्रायः छूटते सुनाई देते हैं, छोटे-छोटे कहीं २ पकड़े दिखाई देते हैं। कुछ न्यूनाधिकता से यही विचार प्रायः सर्वत्र कानों में पड़ते हैं। जहाँ भी जाओ, जिससे भी बात करो, यही विचार छोटे-बड़े प्रायः सबके मुख से सुनाई देते हैं। इनमें कहाँ तक यथार्थता है, यह भगवान् ही जाने ॥

सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि उपर्युक्त यह सारी भावना और विचार जनता में फैल रहे हैं, जो देश के भविष्य के लिए

अत्यन्त घातक हैं। सम्भव है इतना भ्रष्टाचार न भी हो, यों ही बढ़ा-चढ़ाकर लोग ऐसा कहते हों, पर है तो अवश्य ही, चाहे कितनी भी मात्रा में हो, यह तो सभी को मानना पड़ेगा। जनता में अपने देश-नायकों के प्रति अविश्वास का उत्पन्न हो जाना देश के भविष्य के लिए अवश्य ही परम घातक है। यदि यह जनरव असत्य हो, तो इसकी घोषणा प्रामाणिक पुरुषों द्वारा होना परमावश्यक है। जनता की भावना को गिरने नहीं देना चाहिए॥

उपाय वा रोग की चिकित्सा

जब रोग का निदान हो जाता है, तभी उसका उपाय भी सोचा जा सकता है, चिकित्सा तथा उपचार तभी लाभदायक हो सकते हैं। इस सब अनर्थ (पाप) के दो ही उपाय हैं, एक अस्थायी और दूसरा स्थायी। अस्थायी तो यह है कि निश्चित अपराधियों को पक्षपात-रहित होकर दण्ड देना। सच्चे आदमियों को (चाहे वे कांग्रेसी हों या अकांग्रेसी) प्रोत्साहन मिलना चाहिए। सच्चे कर्मचारियों-अफसरों को उन्नति मिलनी चाहिए। अपराधियों की खोज निकालनेवालों को बड़े-बड़े पारितोषक दिये जावें, चाहे वे लोग जनता के हों वा गुप्तचर विभाग (C. I. D.) के कार्य-कर्त्ता। बड़े-बड़े अफसरों-पार्लियामेंटरी-सैक्रेटरी तथा मिनिस्टरों की खोज होते रहनी चाहिए। खोज करनेवालों की परीक्षा पहले होनी चाहिए। तभी उन्हें नियुक्त किया जावे। अपराधी पकड़े जाने पर उसको बड़े से बड़ा मिनिस्टर छोड़ वा छुड़ा न सके। हाँ, निरपराध फँसानेवाले को कई गुना अधिक दण्ड दिया जावे। साथ ही एक शिष्ट-मण्डल हो जो हमारे केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलों तथा धनिक वर्ग को (बिना पूछे व माँगे) निर्देश देनेवाला हो, जिसका कोई सदस्य राज्य का वेतनभोगी न हो, वा पदाधिकारी न हो और कभी किसी की सिफारिश न करता हो। जो इन सभी प्रकार के मन्त्रियों (मिनिस्टरों) धनिकों आदि के मस्तिष्क को

अपने सच्चे प्रेम, राग-द्वेष से सर्वथा रहित, अन्तर्हृदय की देश के प्रति उत्कृष्ट भावना और सर्वथा निःस्वार्थता के शस्त्र से ठीक करें। इसमें सदस्य वे हों जो निर्लोभी-सदाचारी-निःस्वार्थ-त्यागी-विद्वान्-धर्मात्मा-देश-भक्त हों। ये लोग पहले सब प्रान्तीय तथा केन्द्रीय मन्त्रियों और उनके विभागों में भ्रष्टाचार-रिश्वत-कर्त्तव्यपालन न करने आदि की गुप्त खोज करें। पहले तो प्रेमपूर्वक प्राइवेट में सबको चेतावनी दें, न मानें तो पीछे उनके विरुद्ध जनता में (उचित रीति से) आवाज उठायी जावे और उन्हें पार्लियामेंट की सदस्यता से पृथक् होने के लिए जनता द्वारा बाधित वा विवश कर दिया जावे॥

क्या भारत में सच्ची आत्मायें नहीं?

यदि कोई कहे कि ऐसे त्यागी-निर्मल महापुरुषों का इस पुण्यभूमि भारत में अभाव है, तो हम ऐसा नहीं समझते। यह ठीक है, ऐसे अवसर पर महान् आत्मा गाँधी होते तो यह समस्या बहुत कुछ हल हो जाती। पर इस समय भी हमें निराश न होना चाहिए। साहस करके इस ओर पग उठाना चाहिए। यदि भारत के कुछ सुपरीक्षित त्यागी-तपस्वी महापुरुषों का एक मण्डल बनाया जावे जिसके सदस्य राजाधिकारी, राजपुरुष-राजसम्मानित, राजसहायता प्राप्त न होकर पूर्वोक्त गुणविशिष्ट हों, अर्थात् ऐसी अनेक महान् आत्माओं—त्यागी पुरुषों के सहयोग से यह कार्य चल सकता है। ये महानुभाव जिनको और उपयोगी समझें, इस शिष्टमण्डल में सम्मिलित कर सकते हैं। सदा यही मण्डल अन्नसंकट के लिए यथार्थ उपाय बतलाये। कण्ट्रोल हटाये जाने पर उस विभाग में लगे हुए सभी कर्मचारी वा क्लर्कों को सर्वथा न हटाकर दूसरे विभागों में नियुक्ति का पूर्ण विश्वास दिलाया जावे। देश में देश-रक्षा के लिए तय्यार रहने की भावना को सुदृढ़ करें। जनता में अपनी सरकार के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करें। इस मण्डल का कोई सदस्य किसी के पास कभी कोई सिफारिश न करे, यह परमावश्यक है। किसी मन्त्री वा अधिकारी को इस मण्डल में सम्मिलित न किया जावे।

ब्राह्मण की वाणी को राजा (राज्य-संचालक) कभी न रोके

राज्य-सरकार अर्थात् हमारे नेताओं का भी कर्त्तव्य है कि वह शुद्ध भावना से बिना किसी संकोच के ऐसे पवित्र शिष्टमण्डल की वाणी पर ध्यान दे, उसको बन्द करने की चेष्टा न करें।

इसी भावना का प्रतिपादन अथर्ववेद में इस प्रकार है—

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यात् अद्य जीवानि मा श्वः ॥

अथर्ववेद ५।१८।२॥

अर्थात्—जो अजितेन्द्रिय—पापी—आत्मपराजित (आत्मा से हारा हुआ) राजा (राज्य-संचालक) होता है, वही ब्राह्मण की गौ (वाणी) को खा जाता है (रोकता है), यद्यपि वह आज जीवित दृष्टिगोचर होता है, पर वह कल नहीं रहेगा ॥

भारतीय—वैदिक—आर्य संस्कृति का यह (ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् की वाणी) एक अमोघ शस्त्र है, जिससे बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्रों का भाग्य परिवर्तित हो जाता है ॥ मेरे देश के लिए इस समय इस राम-बाण की परमावश्यकता है। यद्यपि यह उपाय इस समय अस्थायी ही प्रतीत होगा, पर आगे चलकर यह उपाय भी देश के कल्याण का स्थायी साधन ही सिद्ध हो सकता है, इसमें कुछ भी सन्देह का स्थान नहीं। इस समय इससे अस्थायी कार्य भी ले लिया जावे, तब भी देश का महाकल्याण हो सकता है ॥

स्थायी उपाय

प्राचीन (ऋषि) प्रणाली से शिक्षा

अब हम स्थायी उपाय की ओर आते हैं। स्थायी उपाय जनता में स्थायी विचार को उत्पन्न करना है, जिसका मार्ग यह है कि जनता

के हृदय में धार्मिक भावना (आचार की प्रधानता), कर्त्तव्य-पालन की भावना, नैतिक वा सामाजिक जीवन की उच्चता अङ्कित कर देना है, कर्त्तव्य-पालन वा धर्मपालन में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसके लिए सर्वप्रथम हमें शिक्षा में पवित्रता भारतीय संस्कृति के सर्वोत्कृष्ट मूलभूत अङ्गों यम—(अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य—अपरिग्रह) तथा नियमों (शौच-संतोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान) के प्रति भावना और अनिवार्य श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना होगा। यही सच्चा धर्म है अर्थात् इन्हीं सार्वभौमिक सार्वजनिक नियमों का नाम धर्म है। सर्वतन्त्र सिद्धान्त जिनके विरुद्ध कोई भी न हो, उसी का नाम धर्म है। ऐसा धर्म संसार के सभी देश और जातियों को मान्य है। जिसके विरोध में कोई भी न हो, वही सच्चा धर्म है॥ ऐसा धर्म राज्य (स्टेट) का धर्म होना चाहिए। भारत का यही धर्म है। ऐसे धर्म से निरपेक्ष राज्य संसार में समुन्नत और शान्ति के दूत नहीं हो सकते॥

अतः हमें शिक्षा-सच्चरित्रता-पवित्रता-अर्थशुचि और देश-स्वतन्त्रता की तीव्र भावना को सर्वोपरि अपने बच्चे-बच्चियों तथा अध्यापक वर्ग में अनुप्राणित करना होगा॥

शिक्षाक्रम में परिवर्त्तन की आवश्यकता

यह तभी हो सकता है जब हम अपनी शिक्षा में परिवर्त्तन करें। अङ्गरेजों ने तो अपनी सुगमता को मुख्यतया ध्यान में रखकर ही भारत में अङ्गरेजी शिक्षा-दीक्षा को प्रारम्भ किया और उसका विस्तार किया। उन्हें भारत को उठाना अभीष्ट न था, अपितु स्वार्थ-साधन की दृष्टि से गिराना अभीष्ट था। जिसके लिए एक आध उद्धरण ही दे देना पर्याप्त होगा, जिससे भारत में बृटिश राज्य के शासक-वर्ग की मनोभावना का हमें तत्काल पता लग जाता है—

"जिन बड़ी-बड़ी जातियों पर हम राज्य कर रहे हैं, वे सब इस समय पृथक्-पृथक् हैं। कोई भी ऐसी शिक्षा जिससे हमारी

भारतीय प्रजा में फैले हुए फूट और कलह के अन्त होने की सम्भावना हो, अथवा जिसके द्वारा अङ्गरेजों के प्रति उनके वर्त्तमानसम्मान के भावों में किसी प्रकार की कमी आवे, ब्रिटिश सरकार के राजनीतिक प्रभुत्व को बढ़ाने में सहायक नहीं हो सकती।"

"हमारी (शासकों की) ही भाँति शिक्षित, हमारी ही भाँति मनोवृत्ति से युक्त और हमारी ही भाँति के कार्यों में प्रवृत्त होने के कारण उनमें हिन्दुत्व की अपेक्षा अङ्गरेजीपन अधिक आ जाता है……इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वे हमारे कट्टर अनुयायी होते ही विरोधी रहने के स्थान पर हमारे चतुर और उत्साही सहायक बन जाते हैं।……हमारे पास एकमात्र यही उपाय है कि हम भारतवासियों को पाश्चात्य प्रणाली की ओर अग्रसर कर दें।"

"हमें अपनी सारी शक्ति लगाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हम भारतवासियों की एक श्रेणी ऐसी तैयार कर सकें, जो हमारे और हमसे शासित उन करोड़ों भारतवासियों के बीच में दुभाषिये का काम कर सके। यह केवल रक्त और रङ्ग की दृष्टि से भारतवासी हों, परन्तु रुचि-विचार-भाषा और भावों की दृष्टि से शुद्ध इङ्गलिश।"

"वास्तव में हमने अङ्गरेजी पढ़े-लिखों की एक पृथक् जाति बना दी है, जिन्हें कि अपने देशवासियों के साथ या तो जरा भी सहानुभूति नहीं है और है तो बहुत ही कम।"

क्या भारत के पुत्र-पुत्री और नर-नारी एक बहुत बड़ी संख्या में अभी तक भी इस उपर्युक्त धारणा के सर्वथा अनुरूप केवल रक्त और रङ्ग की दृष्टि से ही भारतीय नहीं हैं? क्या रुचि-विचार-भाषा-भावना की दृष्टि से सर्वथा विदेशीय नहीं हो चुके और आगे भी पूरी तत्परता

से इसी के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं ? स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी देश में सर्वत्र प्रतिदिन कालेज और हाईस्कूलों की वृद्धि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं ? लड़कों की हीं नहीं, अङ्गरेजी पढ़नेवाली लड़कियों की संख्या दुगनी-चौगुनी ही नहीं, वर्ष-वर्ष में सौगुनी तक बढ़ती जा रही है। यह सब देश की पुरानी परतन्त्रता की भावना को ही और भी चिरस्थायी बनाये रखने के ही तो साधन हैं। अङ्गरेज चले गये, अङ्गरेज़ीयत अभी भारत में पूरे यौवन पर है। क्या कोई भारतीयता का उपासक सच्चा देशभक्त इस बात को कह सकता है, कि अङ्गरेज अपने इस मनोरथ में पूरे सफल नहीं हुये, और वे भारत के लिए अपनी विषरूपी देन, सदा के लिए नहीं तो कम से कम कुछ काल के लिए (जब तक कि देश पुनः वस्तुतः भारतीयता की ओर अग्रसर न हो जावे) तो अवश्य ही अपनी भावना और प्रभाव को अपने पीछे छोड़ गये हैं ॥

आज हम पाठकों के समक्ष अपने विचार इसी विषय में उपस्थित करने लगे हैं कि—

भारतीय संस्कृति के मूलाधार ऋषि-मुनियों का शास्त्र ही भारत के समस्त रोगों की औषध है ॥

जब वैज्ञानिक दृष्टि से अर्थात् बुद्धिपूर्वक हम विचार करते हैं कि क्या प्राचीनकाल के ऋषिमुनि-महापुरुष विद्वान् सब के सब मूर्ख थे, जो उन्होंने सर्वकाल में एक स्वर से भारत को, नहीं-नहीं संसार को, वेद-शास्त्रों के अनुशीलन की ओर सदा प्रेरित किया। वेद को ही

प्रमाणं परमं श्रुतिः (मनु०)

परम प्रमाण बतलाया। इतना ही नहीं, अपितु—

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" ॥
(महाभाष्ये भगवान् पतञ्जलिः) ॥

षडङ्ग (छः अङ्गों सहित) वेद का अध्ययन निष्काम धर्म अर्थात् परम धर्म बतलाया। निष्कारण = निष्काम धर्म उसे कहते हैं जो हर अवस्था

में करना अनिवार्य है, उससे आर्थिक लाभ—मान या सत्कार हो या न हो। इसमें ऋषियों ने क्या इतना भी न सोचा होगा, क्या उनकी बुद्धि इतनी कुण्ठित थी कि वे यह भी न सोच सके हों, कि अन्ततोगत्वा वेदशास्त्र पढ़नेवाले छात्र खायेंगे कहाँ से। क्या उनको धनिकों के द्वार पर भटकना तो न पड़ेगा। यह सब उनको सूझा ही न हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। ऋषि पूर्वापरज्ञ होते हैं। वे आगे-पीछे की सब स्थिति को अपनी ज्ञान-चक्षुओं से देख लेते हैं, इसीलिए उन्हें साक्षात्धर्मा कहा जाता है॥

ऋषिर्दर्शनात्—(यास्क निरु०) उनका अपने विषय का ज्ञान निर्भ्रान्त निर्विकार होता है। तभी वे ऋषि कहाते हैं॥

तो फिर छात्रों और अध्यापकों का निर्वाह कैसे चलता था। सुनो। उस समय सच्चा वैदिक साम्यवाद था। अन्नमात्र का अधिकारी तो प्रत्येक था। राज्य पर उसका उत्तरदायित्व था कि हर एक को अन्न मिले। शिक्षा सबके लिए अनिवार्य थी। फूँस की झोपड़ियों में ऊँचे से ऊँचे विषयों का अध्ययन-अध्यापन होता था। अन्न-धन-धान्य—पशुधन वा अन्य जीवन-सामग्री विपुल मात्रा में थी। उनकी कुछ भी कमी न थी। सब वर्ण तथा आश्रम अपनी-अपनी मर्यादा का पालन करते थे। दिखावे का जीवन न था। जीवन की आवश्यकतायें व्यर्थ में बढ़ाकर उनके लिए हाय-हाय करने की भावना न थी, जैसा कि वर्तमान में इसकी प्रचण्डता है। व्यवस्था इतनी सुन्दर थी, कि चारों आश्रमों में केवल एक गृहस्थ आश्रम ही, और वर्णों में केवल वैश्य ही धन कमाने की चिन्ता में था। ऐसा नहीं था कि सब के सब "हाय पैसा" की रट ही निरन्तर लगाते रहते हों, जो मस्तिष्क खाने-कमाने की चिन्ता में ही निमग्न रहेगा, भला वह अपने लिये, देश और समाज के लिए सोच ही क्या पायेगा। जिसका सिर ही घूमता रहे, वह जो कुछ भी करेगा—पढ़ायेगा—लिखेगा वह सब दोषपूर्ण ही रहेगा, इसमें सन्देह का यत्किञ्चित् भी स्थान नहीं॥

हम इतिहास के आधार पर भी यही देखते हैं कि उपर्युक्त व्यवस्था में हमारा देश सुखी था, स्वाधीन था, धन-धान्य से भरपूर था, तब ऋषि-मुनियों की दर्शाई व्यवस्था तथा पाठप्रणाली नहीं चल सकती, इसमें कोई कारण नहीं ॥

जनसंख्या का बढ़ जाना कारण नहीं

यदि कोई कहे कि जनसंख्या इस समय बहुत बढ़ गई है। उस समय देश में इतनी घनी जनसंख्या (आबादी) नहीं थी। एक विचार इसमें यह है कि अङ्गरेजी राज्य से पहिले जब जनसंख्या नहीं ली जाती थी, तब क्या जनसंख्या बढ़ती नहीं थी ? पिछले पचास वर्ष में यदि २१ करोड़ से ४० करोड़ (अखण्ड भारत में) जनसंख्या हो गई, तो क्या सन् १८५० से १९०० ई० तक १० करोड़ से ही २१ करोड़ जनसंख्या हुई, और क्या सन् १८०० से १८५० ई० तक ५ करोड़ से १० करोड़ बनी। क्या कोई मान सकता है ? वा किसी की समझ में यह बात आ सकती है कि सन् १८०० ई० में भारत की संख्या ५ करोड़ थी ? अतः हमें इसमें देखना होगा कि वास्तविक बात क्या है। यह वर्त्तमान जनसंख्या बहुत अधिक तो मुसलिमलीग की भारतद्रोही नीति का परिणाम थी। हिन्दू विचारवालों ने भी मुसलिम-लीग की नीति के उत्तर में पर्याप्त झूठी संख्या बनाई। मुसलिमलीग की घृणित नीति पर इस समय भी सिख पंजाब में यही खेल खेल रहे हैं ॥ प्रायः लोगों का विश्वास है कि इस जनगणना में बहुत कुछ भूल निकलेगी, यदि ठीक-ठीक जनगणना की जावे। दुर्जनसन्तोष न्याय से यदि मान भी लें कि भारत में जनसंख्या बहुत बढ़ गयी है। तो भी जब हमारे "पुत्रान् विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः" विवाह संस्कार में ऐसा बोला जाता है। और ऐसी ही प्रार्थना सब करते हैं, आशीर्वाद भी देते हैं। तब यह जनसंख्या हमारे देश की उन्नति में साधक होनी चाहिये, न कि बाधक। प्रत्येक गृहस्थ को गौ रखनी

अनिवार्य थी। विवाह में गोदान अनिवार्य है। पत्नी के साथ वर गौ लेकर आता था। हमारा कहना यह है कि यदि अधिक सन्तान वा जनसंख्या है तो समझना चाहिए कि मानवीय शक्ति हमारी प्रशस्त है और उससे हमें अधिकाधिक काम लेने का यत्न करना चाहिए। अधिक जनसंख्या देश की उन्नति में रुकावट नहीं पैदा कर सकती अपितु उत्तरोत्तर उन्नति की साधिका है।

जनसंख्या का अधिक होना, हमें इसके लिए विवश नहीं करता कि हम अपनी प्राचीन ऋषिप्रणाली को छोड़ दें। जनसंख्या बढ़ जाने के कारण जाति के दुःखों व रोगों की औषध नहीं हो सकती, यह बात नहीं।

दूसरा आक्षेप जो ऋषिप्रणाली पर किया जाता है कि उससे व्यावहारिक ज्ञान नहीं हो सकता। सो भी ठीक नहीं। कारण यह कि एक तो वर्णाश्रम मर्यादा के अनुसार सभी का धन कमाने में लगना अनिवार्य नहीं रह जाता। तब व्यावहारिकता (धन कमाने के मार्गों का ज्ञान प्राप्त करना ही आजकल की व्यावहारिकता का वास्तविक स्वरूप है) केवल वैश्यों को वैश्य बनाने वालों के लिए ही बच जाती है। वैश्य का भी शुद्ध स्वरूप ही मानव-समाज के कल्याण का साधक होगा। विकृत स्वरूप का ज्ञान न होना ही क्या सच्ची व्यावहारिकता न होगी !!! सरकार चाहे कितने ही आर्डिनेन्स, कानून, नियम पास करती रहे, व्यापारी चोरी का रास्ता निकाल ही लेता है। दूसरे की जेब से पैसा किसी न किसी तरह निकाल लेना यदि यही व्यावहारिकता है तो इसे यूरोप-अमेरिका के लिए ही छोड़ दिया जावे। भारतवासी इसके बिना जी ही न सकेंगे, ऐसी बात नहीं। सच्ची नागरिकता के लिए सच्ची व्यावहारिकता ही उपादेय है। छल, छिद्र, कपट, जालपूर्ण व्यावहारिकता को कम से कम भारतवासियों को तो दूर से ही नमस्कार कर देना चाहिए। तभी मानव सच्चा मानव बन सकेगा, तभी मानव-समाज समाज कहलाने के योग्य होगा।

आर्षज्ञान (ऋषिप्रणीत शास्त्र) ही भारत के समस्त रोगों की अचूक औषध

अतः हमें इस समय जब कि हमारा देश स्वतन्त्र हो गया, उसकी सुरक्षा तथा समृद्धि के लिए अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ज्ञान, शिक्षा, अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, तभी हमारा देश समृद्ध हो सकेगा। यह हमारे लेख का वास्तविक उपक्रम है। जिसे हम सहेतुक अर्थात् सोपपत्तिक पाठकों के समक्ष रखना चाहते हैं। यों ही प्रतिज्ञामात्र नहीं, अपितु हेतु उदाहरणादि द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं। जो सज्जन विदेशीय शिक्षा में पले हैं या जिनको उसका ही सदा दर्शन हुआ है उन्हें तो हमारा कथन कि "ऋषिप्रणाली से ही भारत के समस्त रोग दूर हो सकते हैं" प्रमत्त-प्रलाप समान प्रतीत होगा। पर प्राचीन संस्कृति में आस्था रखनेवाले सज्जनों को भी हमारी इस बात में संशय न रह जावे, अतः हम युक्तियुक्त ही इस विषय का प्रतिपादन करने की चेष्टा करेंगे कि शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य कैसे है? अशान्तमन अस्थिरमति शास्त्रनिर्माता नहीं हो सकते। सब शुद्ध वा संयतमन नहीं हो सकते। संयत महापुरुष ही संसार के कर्णधार और समाज के नेता वा जीवनयात्रा के परिचालक होते हैं। अपनी शास्त्ररूपी कृतियों द्वारा ही ये संसार में चिरजीवी हुआ करते हैं।

शास्त्रों का महत्त्व। शास्त्र की परीक्षा (चरकानुसार)। दो सहस्र वर्ष पहले ऋषियों के ग्रन्थों का ही अध्ययन होता था। शास्त्रों का परित्याग आप्त पुरुषों का परित्याग है। शास्त्ररूपी विशुद्ध और निर्मल दुग्ध में मैल मल-मूत्र आदि का छींटा भी सबको नष्ट कर देगा। शास्त्र के नाम पर क्या-क्या अनर्थ हुए। जब तक आर्यजाति का मन-चेष्टा-भाव ये सब शुद्ध, संयत और समुन्नत न होंगे, भारत के कल्याण की कोई आशा नहीं। "सब ठीक हैं" यह विचार अतीव दोषपूर्ण है। पतनोन्मुख जाति वा अपने देश के उठाने में शास्त्र की शुद्धि ही अपरि-

हार्य शस्त्र हो सकता है। बिना लेबल की ओषधियों में विष और अमृत का भेद अनिवार्य है। क्या हमारे शास्त्र जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में समर्थ हैं ? क्या अन्य देशवासियों वा अन्य जातियों को भी भारतीय शास्त्र के अध्ययन द्वारा कोई अपूर्व लाभ हो सकता है ? क्या अन्य देशों में ऋषि-मुनि नहीं हुए वा नहीं हैं ? क्या भारत ने ही इसका ठेका ले लिया है ? इन सब पर आगे विचार करना चाहते हैं, जो क्रमशः चलेगा।

वर्त्तमान शिक्षा में दोष, ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार इत्यादि विषयों का सोपपत्तिक उपपादन आगे किया जायगा।

शास्त्र भारत की अपूर्व सम्पत्ति

यद्यपि भारत संसार के उन देशों में से है जिनमें कि सुकाल रहने पर सबसे अधिक धन-धान्य-पशु-उर्वरा भूमि-कोयला-अभ्रक-हीरा आदि खनिज पदार्थ हैं और जहाँ नमक-कपास-जूट आदि जीवनोपयोगी सभी सामग्री (कच्चा माल) विपुल मात्रा में उत्पन्न होता है। जिसके कारण ही पिछले २०० वर्ष में अङ्गरेज जाति संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संसार के सामने आयी और भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी इङ्गलैण्ड, अमेरिका, रूस सबसे बड़ी समझे जानेवाली ये विदेशीय शक्तियाँ अभी तक दाँत लगाये बैठी हैं कि किस प्रकार इस सोने की चिड़िया को वश में किया जावे। साम-दाम-दण्ड-भेद सभी उपायों से इस भारत को परमुखापेक्षी पराश्रित बनाये रखना चाहते हैं। काश्मीर का मामला इसी बात का ज्वलन्त उदाहरण है। "चोर-चोर मौसेरे भाई"। सम्प्रति तो यू० एन० ओ० प्रायः लुटेरों के भिन्न-भिन्न गुटों का एक समूह ही कहा जा सकता है। जो लुटेरे नहीं, लूट को रोकना चाहते हैं, उनकी अभी तक विशेष सत्ता नहीं वा इनके कहने का कुछ प्रभाव नहीं। लुटेरे वा डाकू परस्पर इतने संगठित होते हैं कि एक-दूसरे के लिए प्राण तक दे देते हैं, पर लूट का माल बाँटने पर ही इनका

वास्तविक रूप संसार के सामने आता है। इङ्गलैण्ड पर्याप्त समय आशा लगायें रहा कि भारत विवश होकर बृटिश राज्य को भारत सम्भालने के लिए फिर से बुलावेगा। तभी मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ काश्मीर में आने के प्रस्ताव रखे जाते रहे। पाकिस्तान को आक्रामक घोषित आज तक नहीं किया, दस वर्ष से भी ऊपर हो गया। पर उत्तर कोरिया और चीन को आक्रामक घोषित करने में कुछ देर नहीं लगी। क्या ऐसा पक्षपातपूर्ण यू० एन० ओ० कभी जीवित रह सकता है? इसका अन्त भी वही होगा जो लीग आफ नेशन्स का हुआ। 'मुँह में राम बगल में छुरी' यह कदापि सफल नहीं हो सकती। अमेरिका भी ऊपर से तो नहीं, पर हृदय से यही चाहता रहा कि इङ्गलैण्ड नहीं तो अमेरिका ही भारत को पुनः सम्भाले। पर भारत सावधान है और रहेगा !!

भारत आने पर रूस के प्रधानमन्त्री श्री० खुश्चेव का भारी सम्मान किया गया। अमेरिकन राष्ट्रपति श्री आइक का अभूतपूर्व स्वागत भारत में हुआ। भारत सभी से मित्रता रखना चाहता है। मित्रता की बड़ी-बड़ी बातें हो रही हैं। पर इनके पीछे कहाँ तक सहृदयता-सत्यता और वास्तविकता है, यह तो संकट उपस्थित होने पर ही पता लगेगा। चीनी प्रधानमन्त्री का भी भारी स्वागत हुआ था। पञ्चशील और भारत-चीनी भाई-भाई की खूब दुहाई दी गई थी। अब चीन भारत की हज़ारों वर्गमील भूमि हड़पना चाहता है। रूस चुप क्यों है !! ये सब विश्व-राजनीति के हथकण्डे हैं। भारत सबल होगा तभी इस समस्या का भी हल होगा। प्रत्येक भारतीय को विशेषकर भारतीय नवयुवक को इसके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। भारत वीरता में किसी से कम नहीं है।

हमें कहना यह है कि भारत संसार में सोने की चिड़िया समझी जाती है, और है भी। निजाम हैदराबाद की सम्पत्ति प्रजा की सम्पत्ति के रूप में भारत की सम्पत्ति बन जाने से यह चिड़िया और भी आकर्षक हो गयी है॥

यह सब होने पर भी भारत की अपूर्व सम्पत्ति तो उसका साहित्य है, जो सृष्टि के आरम्भ से वेद और शास्त्र के रूप में उसे वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है। जिसकी रक्षा में न जाने कितने असंख्य ऋषि-मुनि विद्वान् आचार्यों के त्याग, तपस्या और बलिदान निहित हैं। संसार के पुस्तकालय में ऋग्वेद सबसे पुराना ग्रन्थ है, इतना तो विदेशी भी मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते हैं। भारत के इस प्राचीन साहित्य के अमूल्य रत्न, सैकड़ों नहीं लाखों की संख्या में यूरोप और अमेरिका आदि देशों की अनेकों यूनिवर्सिटियों में विद्यमान होना ही इस बात का प्रबल प्रमाण है कि संसार भारतीय साहित्य के उन रत्नों का मूल्य कितना आँकता है। तभी तो विदेशी लोग चाँदी और सोना डाल-डाल कर हमारे वे अलभ्य रत्न (साहित्य) जो हस्तलेखों के रूप में थे, हमारी अज्ञान वा पराधीन अवस्था में भारत से ले गये, जिसके लिए अब हम भारतीयों को, उनका मुख देखना पड़ रहा है। इस साहित्य का इतना ही मूल्य नहीं, जो विदेशी आँक रहे हैं, अपितु समय आवेगा, जब हमारे इस साहित्य का मूल्य संसार को नये सिरे से आँकना पड़ेगा। भारतीय साहित्य के अनेक अङ्ग हैं, जो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं। एक एक विषय के ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचाते हैं। कई विषय तो ऐसे हैं कि विदेशी ज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वहाँ हमारे साहित्य के ज्ञान का प्रारम्भ होता है। इस समय हम भारतीय साहित्य के सम्पूर्ण अंशों पर विचार न कर, केवल उसमें के शास्त्रीय अंश पर ही विचार करना चाहते हैं, जो हमारे साहित्यरूपी वृक्ष की एक प्रधान शाखा है॥

शास्त्र की आवश्यकता

पाठक वृन्द ! आप हमारी इस विचार-धारा में तत्परता से बुद्धि लगाने का यत्न करें और सोचें कि शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है। हम यहाँ यह बतलाना चाहते हैं कि शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। ऐसा नहीं है कि कोई मनुष्य शास्त्र के बिना अपना कार्यकलाप सुचारु रूप

से चला सके, अपितु इसके विपरीत यह है कि प्रत्येक देहधारी मनुष्य को शास्त्र का आश्रय लेना अनिवार्य है, चाहे उसका रूप जो भी हो। सो कैसे, यह हम आगे दर्शाना चाहते हैं।

आचार्य कहते हैं ले चलनेवाले को, मार्ग दिखानेवाले को, अज्ञानरूपी ग्रन्थियों के खोलनेवाले को, डूबते प्राणी को ऊपर उठा देने-वाले को, प्रवाह में बहते प्राणी वा बही जानेवाली जाति को सहारा देकर पार लगा देनेवाले को, और बिना कहे वा पूछे स्वयं ही संसार को हितमार्ग का निर्देश करनेवाले को। इसलिए यास्क मुनि 'आचार्य' का लक्षण करते हैं—

"आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति। आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा" (निरु०)॥

अर्थात् 'आचार्य' उसे कहते हैं, जो आचार का ग्रहण करानेवाला हो। जो अनेकविध पदार्थ (ऐश्वर्य) का प्राप्त करानेवाला हो। जो ज्ञानदाता हो अर्थात् जीवननौका को अपने ज्ञान द्वारा पार लगा देने वाला हो।

बिना सिखाये किसी को कुछ नहीं आ सकता

यह नियम है कि प्रत्येक बालक बिना सिखाये कुछ भी नहीं सीख सकता। प्रभु की इस सृष्टि में एक को दूसरे से सीखना ही पड़ता है। चाहे वह सिखाने वाला माता हो या पिता हो अथवा कोई अन्य व्यक्ति। बिना सीखे छुटकारा नहीं। मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान बहुत ही अल्प होता है। जितना होता है वह भी अनुद्बुद्ध होता है। उद्बुद्ध होने के लिए ही दूसरे की आवश्यकता पड़ती है, जो अनिवार्य है। जिसे प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष देखता है और जानता है, और इस बात से नकार नहीं कर सकता। जैसा कि हमने ऊपर बताया, 'आचार्य' उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले व्यक्ति का नाम है, जो पहले स्वयं ऊँचा उठकर

दूसरों को भी ऊँचा उठाता है। इसके विपरीत जिसका अपना स्तर ही अत्यन्त नीचा है, वह तो 'स्वयं नष्टः परान् नाशयति", स्वयं तो नष्ट है ही, दूसरों को भी नष्ट ही करेगा। ऐसा व्यक्ति "आचार्य" की परिभाषा में कदापि नहीं आ सकता। देश-जाति वा संसार को अज्ञान-पापरूप गढ़े से निकालकर ज्ञान व प्रकाशरूपी ऊँची स्थिति पर पहुँचाने वाला "आचार्य" है। भला उसकी आवश्यकता से कौन नकार कर सकताहै। उसके बिना तो मानव समाज का कोई भी कार्य कुछ भी आगे सरकना असंभव है, क्योंकि बिना सीखे मानव-समाज की कोई भी क्रिया आगे नहीं चल सकती।

जब आचार्य की आवश्यकता अनिवार्य है, तब शास्त्र की आवश्यकता स्वयं अनिवार्य है, क्योंकि आचार्यों की कृति—रचना का नाम ही शास्त्र है। वर्त्तमान युग में एक आचार्य दयानन्द हुए। पुराकाल के ऋषि-मुनियों की कृतियां ही प्रत्यक्ष आचार्य के रूप में इस समय हमारे सामने हैं। जब हम उनका कोई ग्रन्थ पढ़ते हैं, उस समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम उनसे बातें कर रहे हों, हम पूछ रहे हों और वे हमारे प्रश्नों के उत्तर दे रहे हों। जब चाहो जिस ऋषि से बातें कर लो, उपस्थित हैं। जैसे काव्य में कवि, इतिहास में ऐतिहासिक शब्दरूपी होकर विराजमान रहता है, वैसे शास्त्र के भीतर शास्त्रकर्त्ता शब्दरूप ऋषि व आचार्यविशेष होकर विराजमान रहता है। 'शास्त्रं शासनात्', शासन करने (मार्ग दर्शाने) से ही तो शास्त्र है। शब्दरूपी 'ऋषि' वा 'आचार्य' का ही नाम तो 'शास्त्र' है। अब यह बात तो युक्तियुक्त होने से सबकी समझ में आ जाती है कि जब आचार्य-गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है, तो शास्त्र की आवश्यकता भी अनिवार्य है, यह स्वतःसिद्ध है। यद्यपि साधारण दृष्टि से यह बात उपर्युक्त रीति से सबकी समझ में आ जाती है, तथापि इस विषय में प्रकारान्तर से सूक्ष्म दृष्टि से भी अधिक विचार करना आवश्यक है।

सब ऋषि-आचार्य वा नेता (नायक) नहीं हो सकते

गुरु, आचार्य, माता-पितादि से पढ़-सीख कर भी सब आचार्य वा ऋषि नहीं होते। यह प्रत्यक्ष वा सर्वविदित है। ऐसा क्यों होता है, विवेचना करने पर यह पता लगता है कि अनेक छात्र एक ही श्रेणी में, एक ही समय में, एक ही साथ, एक ही आचार्य वा गुरु से, एक ही शब्दधारा को सुनकर भी समान विद्वान् नहीं बनते। यह बात स्वाभाविक है, सर्वप्रत्यक्ष है। लाख यत्न करने पर भी यह बात अन्यथा नहीं की जा सकती। अर्थात् किसी श्रेणी के छात्र-छात्रायें एक समान योग्य कदापि नहीं बन सकते, न बनाये जा सकते हैं।

इसी में महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं—

"स्वाभाविकमेतत्। तद्यथा। समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। तत्र किमस्माभिः कर्त्तुं शक्यम्। स्वाभाविकमेतत्"॥

(महाभाष्य अ० १।१।३८)॥

अर्थात् समान रूप से यत्न करते हुए—एक समान अध्ययन करनेवालों में कुछ तो उस विषय को ग्रहण कर लेते हैं, दूसरे यत्न करने पर भी ग्रहण नहीं कर पाते। इसमें भला हम क्या कर सकते हैं, यह तो स्वाभाविक है॥

ऐसा होने में कारण क्या है, यह विवेचन करने पर हमें पता लगता है कि इसमें मुख्य कारण मन वा बुद्धि है। संयतमना व्यक्ति ही अधिक कर्मपरायण हो सकता है। दुर्जेयमन पर साधारण जन विजय पाने में अपनी निर्बलता से पीछे रह जाता है॥

इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए किसी आर्ष ग्रन्थ अष्टाध्यायी-महाभाष्य वा दर्शन का पाठ पढ़नेवाले छात्र, गुरुकुल के ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी, को अपने गुरु वा आचार्य से पढ़ते हुए जब देखते हैं।

अथवा स्कूल में गणित-विज्ञान वा इतिहास का पाठ अपने अध्यापक से सुनते देखते हैं। यद्वा किसी महाविद्यालय-कालेज वा विश्वविद्यालय में अपने प्रोफेसर से कोई भी विषय ग्रहण करते हुए देखते हैं, तो उपर्युक्त बात हमें तत्काल समझ में आ जाती है। पाठ पढ़ते समय जिन विद्यार्थियों का मन स्थिर होता है, चित्तवृत्ति निरुद्ध होती है, वे पढ़ाये जानेवाले पाठ के एक-एक शब्द को अध्यापक के मुख से निकलते समय ही बहुत सावधानता से सुनते हैं, और उसमें जो बात समझ में नहीं आती, उसे योग्यतापूर्ण ढंग से उसी समय शान्तिपूर्वक (मूर्खतापूर्ण और घबराये हुए ढंग से नहीं) अपने अध्यापक से अत्यन्त नम्रतापूर्वक पूछ लेते हैं कि अमुक अंश को कृपया फिर समझा दें। ऐसे छात्र प्रायः मध्यम कोटि के होते हैं, जिन्हें प्रायः ऐसा पूछना पड़ता है। जो अध्यापक के मुख से निकली शब्द-धारा को सुनकर तत्काल समझ लेते हैं कि अध्यापक ने क्या कहा, और वह ठीक कहा है। इन्हें, अध्यापक से पूछने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। निम्न कोटि के विद्यार्थी वे होते हैं जो अध्यापक के पाठ-पढ़ाते समय तो अपने छात्रावास-गृह या मित्रमण्डली की अतीत-अनागत की व्यर्थ क्रियाओं वा सहभोज-सिनेमा-प्रेमालाप-आसक्ति-लड़ाई-झगड़े आदि को सोचने में लगे होते हैं, अथवा निरन्तर बहुत काल से प्रतिदिन के पाठ में छूटी हुई और आगे पूरी न की हुई बातों के कारण, आगे-आगे भी पाठ में पछड़ते जाते हैं, एक बार पछड़े कि बराबर पछड़ते जाते हैं, इसी का परिणाम होता है कि विद्यार्थी प्रतिदिन पतनोन्मुख हो रहा होता है। घरवाले समझते हैं कि वह कालेज पढ़ने गया है, होता है वह धूर्त्त वा गधा पचीसी मण्डली में, (गधा पचीसी १६ से २५ वर्ष की आयुवाले स्कूल और कालेज आदि के छात्र का नाम है जो अपने भविष्य को स्वयं सोच नहीं सकता, माता-पितादि को मूर्ख समझता है, किसी के कहने पर चलने को तैयार नहीं—इसी को ज्ञान-लवदुर्विदग्ध कहते हैं) वा उसके अधिवेशन में, यारी-दोस्ती और लफंगेपने में। पाठक स्वयं सोच सकते

हैं, ऐसे छात्र, वा छात्रा एक ही श्रेणी में दो-दो चार-चार बार अनुत्तीर्ण न हों, तो यह बड़े आश्चर्य की ही बात होगी।

कहना यह है कि पढ़ते समय जिनका मन स्थिर होता है; जिनकी चित्तवृत्ति निरुद्ध होती है, पाठ पढ़ते समय जिनका मन बाह्यविषयों में नहीं जाता, दूसरे शब्दों में पढ़ाये जानेवाले विषय में ही जिनकी चित्तवृत्ति निरुद्ध (रुकी) होती है, वे ही छात्र उस पाठ्यमान विषय को ठीक ग्रहण कर पाते हैं; जो ऐसा नहीं करते, और पीछे अपने साथियों से उसी पाठ को समझने की चेष्टा करते देखे जाते हैं, जिन छात्रों की ऐसी स्थिति मास में एक-दो बार हो, वे तो फिर भी अपने को सम्भाल ले जाते हैं, पर जिन छात्रों की प्रतिदिन की यही अवस्था हो, कि विद्यालय में घर की याद सताती हो, और घर में विद्यालय की याद। ऐसे अस्थिरमति छात्रों का भविष्य सदा अन्धकारमय रहना स्वाभाविक है ॥

विद्यालय-कालेजादि से अतिरिक्त कार्यक्षेत्र में उतरे व्यक्तियों का हाल भी प्रायः ऐसा ही देखने में आता है। आफिस में अकौण्ट (हिसाब) कर रहे हैं, मन घर में हैं। उस दिन का जोड़ कभी ठीक नहीं बैठता। वकील-डाक्टर-न्यायाधीश-व्यापारी-आफिसर और मिनिस्टर आदि सबकी यही स्थिति है। दुर्जेय मन पर साधारण जन विजय पाने में अपनी निर्बलता के कारण पीछे रह जाते हैं, अतः सब आचार्य वा नेता नहीं हो सकते। पूर्वसञ्चित बुद्धि भी इसमें कारण होती है, पर होती है वह उस व्यक्ति के अपने किये हुए कर्मों का परिणाम ही, इसीलिये शास्त्र में मन की महिमा अत्यन्त गायी गयी है ॥

मन की महिमा

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन ही बन्धन वा मुक्ति (दुःख निवृत्ति) का कारण है। हमने ऊपर पढ़ने का उदाहरण दिया। संसार के प्रत्येक कार्य की यही स्थिति है। मन की महिमा विश्व की

चेष्टामात्र में स्पष्ट दिखाई देती है। मानवीय कार्यकलाप की प्रवृत्ति संसार में किस प्रकार हो रही है या होती है, इस विषय पर जब हम विचार करते हैं तो पता लगता है कि आत्मा अपने पूर्व संचित ज्ञान के आधार पर संसार के पदार्थों को पहिले अपने विचारमात्र से एकत्रित करता है। फिर वह मन को उसमें लगाता है। "आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" मन आत्मा में स्थित इच्छा-द्वेष आदि के अनुरूप चक्षुः आदि इन्द्रियों को प्रेरित करता है। तद्यथा—

"मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः। रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय।"

(न्यायवात्स्यायनभाष्य १।१।२) ॥

अर्थात्—मिथ्याज्ञान से अनुकूल विषयों में राग होता है, प्रतिकूल विषयों से द्वेष। राग-द्वेष के कारण असत्य-ईर्ष्या-माया लोभ आदि दोषों की उत्पत्ति होती है। दोषों से प्रेरित हुआ शरीर के द्वारा प्रवृत्त हुआ मनुष्य हिंसा-अस्तेय-प्रतिषिद्ध सम्भोग करने लगता है। वाणी द्वारा असत्य-कठोर और निन्दा असम्बद्ध प्रलाप करता है। मन के द्वारा परद्रोह—परद्रव्य लेने की इच्छा—और नास्तिकता अर्थात् 'न कर्म है, न कर्मफल है। न जीव है, न उसका कोई जन्म है, जन्म है भी तो विना ही निमित्त के है। और विना निमित्त के ही स्वयं समाप्त भी हो जाता है। व्यवस्थापक की आवश्यकता ही नहीं' इत्यादि विचार उत्पन्न होने लगते हैं। यह पापात्मक प्रवृत्ति ही अधर्म की मूलक होती है॥

इस प्रकार राग आदि ज्ञाता को पाप या पुण्य में प्रवृत्त करते हैं। जहाँ वा जब तक मिथ्याज्ञान (जिसकी कोटि अर्बुदशाखा-प्रशाखा

हैं) बना रहेगा। राग-द्वेष आदि बराबर बने रहेंगे, और प्रवृत्ति बनी रहेगी। तब तक मन का व्यापार बराबर चलता ही रहेगा। इस प्रकार मन ही मानवीय कार्यसमूह का प्रवर्त्तक है। यह बात समझ में आ जाती है। आत्मा के राग आदि इसमें प्रेरक हैं। मन मुख्य साधन रूप है। राग वा इच्छादि भी मन के ही खेल हैं, जो बुद्धि की ऊहापोह द्वारा उत्पन्न होते रहते हैं। बुद्धि भी मन की अवस्थान्तर का ही रूपविशेष तो है। 'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते' (यजुः ३४।२) अतः मानना पड़ता है कि मन ही मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों वा कार्य-कलापों का संचालक वा नियन्त्रक है, शास्त्र की परिभाषा में मन संचालन वा नियन्त्रण का मुख्य साधन है और आत्मा से भिन्न है।

स्मृति-संशय-प्रतिभा-स्वप्नज्ञान-ऊहा-प्रत्यक्ष सुखानुभूति वा इच्छा आदि मन के द्योतक हैं। इनके द्वारा मन का ज्ञान होता है। एक साथ इन्द्रियों के सब विषय रूप-रस गन्ध आदि एक साथ उपस्थित रहने पर भी सबका ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ ही विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लें, ऐसा नहीं हो सकता। हमें पृथक् इन्द्रिय मन की सत्ता को स्वीकार करना ही पड़ता है। रूप-रस-गन्ध आदि का ग्रहण करने के लिए आत्मा और इन्द्रिय से भिन्न सहकारी मन का होना अनिवार्य है॥

अब यदि वह मन आत्मा का सहकारी (आत्मा के अधीन) होकर कार्य में प्रवृत्त होगा, यदि इसके विपरीत आत्मा का अभीष्ट सिद्ध होगा, यदि इसके विपरीत आत्मा मन को अपने वश में नहीं रख सकेगा, अर्थात् आत्मा अपने अज्ञानवश मन को स्वाभीष्ट मार्ग में प्रेरित नहीं कर सकेगा, तो मन जहाँ चाहेगा जावेगा, इसका परिणाम नाश के अतिरिक्त कुछ न होगा॥

मन पर बागडोर छोड़ी नहीं जा सकती

मन स्वभाव से चञ्चल, चलने में उच्छृङ्खल, शक्ति में दुर्निवार है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (गीता)

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (य० ३४।१) ॥

वायु को वश में लाना जैसे अत्यन्त दुष्कर है, मन को वश में रखना भी वैसा ही अत्यन्त दुष्कर है। मन अत्यन्त बलवान्-अस्थिर और दुर्जेय है ॥

जागते में तो यह अद्भुत शक्तिवाला मन न जाने कहाँ-कहाँ निरन्तर जाता ही है, सोते में भी वैसा ही जाता रहता है। इसकी अद्भुत लीला है। कभी तो हजारों-लाखों रुपये के नोट-भूषण आदि अडोल पड़े मिल जाने पर भी, जहाँ कोई दूसरा व्यक्ति उसे देख भी नहीं रहा होता, वह उसके स्वामी को बहुत ही परिश्रम और कष्ट से समय लगा, खोजकर उसे उस विपुल धन-राशि वा सम्पत्ति को पहुँचाता हुआ देखा जाता है। और कहीं दो पैसे पर बेईमान (लोभाक्रान्त) होता देखा जाता है। जगत् में रात-दिन दौड़ लगाता है, सोते में भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। कभी तोड़ने लगता है तो कभी जोड़ने लगता है। कभी टहलना चाहता है, कभी बैठना और कभी एकदम लेटना ही चाहने लगता है। एक दिन पहिले जो व्यक्ति अपने सगे भाइयों के साथ बंटवारे में एक पैसा भी छोड़ता नहीं, उसके लिए झगड़ा-मुकदमा-पंचायत सभी कुछ करने को तय्यार है, चाहे उससे दोनों का नाश ही क्यों न होता हो, किसी की भी बात मानने को तैय्यार नहीं, वही व्यक्ति दूसरे ही दिन वैराग्यवान् होकर स्वयं बिना किसी के कहे-सुने अपना सब कुछ देने को तैय्यार हो जाता है। मन की गति ही सहसा दूसरी ओर चल पड़ती है। मन

जीवन में कभी-कभी पूर्णमासी के चन्द्रमा के प्रकाश समान प्रफुल्लित मुखमण्डल को भी क्षण भर में अन्धकार की गहरी रेखाओं से कलुषित कर देता है। कभी अमावस्या की भाँति घोर अन्धकारपूर्ण परिस्थिति में प्रकाश की रेखा खींचकर निराश और दुःखपूर्ण मानव को क्षण में ऊँचा उठा देता है। आनन्दोत्सव-हर्ष-प्रमोद को श्मशान में परिणत करता और श्मशान में सुख की दुकान लगाकर बैठता है। कभी विषपान करके तृप्त होता देखा जाता है। समस्त वसुन्धरा का आधिपत्य प्राप्त करके भी मन अशान्त रहता है। तीव्रगामी बड़ी-बड़ी पर्वतीय नदियों का वेग बड़े-बड़े बाँध लगाकर रोका गया देखा जाता है, परन्तु मन के रुकने में सन्देह ही बना रहता है॥

कहना यह है कि यदि मन पर बागडोर छोड़ दी जावे, सब चप्पू मन को दे दिये जावें, अर्थात् मन को कर्णधार बनाकर संसाररूपी समुद्र में यात्रा करना आरम्भ कर दिया जावे, तो ऐसा अवस्था में अपने आप पदे-पदे आपत्ति के लिये तैय्यार होकर ही ऐसा करना होगा। जीवनरूपी नौका किनारे लगेगी, इसकी आशा भी सर्वथा छोड़ ही देनी होगी। प्रायः यह सर्वत्र देखने में आता है कि मन के कर्णधारत्व में समय-समय पर नौका के डूबने की ही सम्भावना नहीं बनी रहती, अपितु ऐसी नौकाएँ डूबते-डूबते सैकड़ों-सहस्रों मनुष्यों के जीवनों को भी ले डूबती देखी जाती है॥

अताड़ित मन अशासित हाथी

दृष्टान्त सामने है। एक शासित हाथी, जिसका शासक उसके ऊपर बैठा है, उसके ऊपर बैठने में किसी को कुछ भय नहीं रहता, एक बच्चा भी ऊपर जा बैठता है, अथवा निःशङ्क बिठाकर उसके अभिभावक माता-पिता आदि उसे स्थानान्तर की यात्रार्थ छोड़कर सर्वथा निश्चिन्त होकर अपने घर लौट जाते हैं और उस बालक के निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाने में किसी को भी सन्देह नहीं होता, क्योंकि

उसपर हस्तिपक (महावत) शासक के रूप में बैठा है जिसके द्वारा कि वह हाथी सिधाया हुआ है। या किसी अन्य के द्वारा सिधाया होने पर भी वह उसे वश में रखने की कला जानता है। महावत भी सीखे (शासित) हाथी को ही वश में रख सकता है। यदि हम एक अशासित हाथी पर (बिना काबू के, जिसे महावत ने सिखाकर सिधाया नहीं) अपने किसी प्रिय पुत्र वा बन्धु को बैठाकर निःशङ्क नहीं होते, या बिना सधे बेकाबू घोड़े की पीठ पर अपने किसी प्रियतम बन्धु को बिठाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाते, अथवा यदि हम एक चञ्चल अस्थिरमति अविश्वसनीय पुरुष वा स्त्री के हाथ में अपने प्रिय पुत्र वा पुत्री की यात्रा व पठनपाटन का भार, नहीं नहीं, उनके साथ बाजार से शाक-भाजी लाने का भार भी सौंपकर निश्चिन्त नहीं हो सकते, तो हम किस साहस से और किस युक्ति के बल पर मन को परिचालक-कर्णधारक के पद पर आरूढ़ करके निर्विघ्न, निश्चिन्त वा निःशङ्क होकर कार्यक्षेत्र में अग्रसर हो सकते हैं ॥

यदि हम एक बार नहीं, असंख्य बार भी यह कहें कि पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म के विचार में, कर्त्तव्य, बुराई-भलाई, उचितानुचित भक्ष्या-भक्ष्य के निर्णय में, समय-समय पर परिस्थितियों में किसी भी मार्गविशेष के प्रवर्त्तन वा परिवर्त्तन में, सूक्ष्म-स्थूल विषयों की मीमांसा में, समय-समय पर जीवन की जटिल समस्याओं के विवेचन वा हल करने में, केवल मन का नियन्तृत्व वा नायकत्व ही निरापद नहीं, सदा ठीक बना रहेगा, तो भी हम नहीं कह सकते, कि हमने ऋत अर्थात् पूरी बात कही, इसमें सन्देह ही है ॥

केवल प्रतिभा से भी काम नहीं चल सकता

जो व्यक्ति यह समझते हैं कि 'शिक्षा के प्रभाव से मन परिमार्जित हो जाता है, तीव्र बुद्धि विचारशील ही देखे जाते हैं। प्रतिभासम्पन्न मनुष्यों की मानसिक शक्ति वा कार्य-शीलता स्वभावतः ही उज्वल हुआ

करती है, तीक्ष्ण बुद्धि मनुष्य तत्क्षण ही भूत और वर्त्तमान को समझ भावी का निश्चय कर लेते हैं, अल्प बुद्धि मनुष्य सोचता ही रह जाता है। इसलिए मन का नेतृत्व मानकर चलने में ऐसे पुरुषों के लिए कोई दोष नहीं। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संसार का भी कोई अनिष्ट नहीं हो पाता', सो भी ठीक नहीं, क्योंकि इतने से तो यही सिद्ध होता है कि मानवमात्र के लिए किसी न किसी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना ही पर्याप्त है, परन्तु मन जिसके द्वारा शुद्ध शासित और संयत होकर उत्तम और पवित्र कर्मसमूह का अनुष्ठान कर सके, वह तत्त्वभूत वस्तु विशेषरूप से न तो केवल शिक्षा में विद्यमान है, न ही तीक्ष्ण-बुद्धिशालिता में है, न ही प्रतिभामात्र में है ॥

संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे देखे जाते हैं, जो अपनी बुद्धि की तीव्रता-प्रतिभा की उज्ज्वलता उत्कृष्टता के बल से जनसमाज में नेता वा प्रसिद्ध व्यक्ति कहकर प्रसिद्ध होने पर भी, केवल मन की पवित्रता वा इन्द्रियसंयम के अभाव से पङ्क में पतित होकर, जैसे अन्यों को अपवित्र बना देते हैं। वैसे ही अत्यन्त अरुचि और घृणा भी उत्पन्न कर देते हैं। अतः केवल प्रतिभा और जन-साधारण प्रचलित शिक्षा वा सुतीक्ष्ण बुद्धि-शालिता पर ही मानवता का निर्भर नहीं है। इससे भिन्न गम्भीर वा उच्चतर ज्ञान, जो मनुष्य जीवन का गौरव वा भूषणस्वरूप है, वह केवल प्रतिभा के आश्रय से प्राप्त नहीं होता। "श्रद्धया सत्यमाप्यते" (वेद) श्रद्धा से यथार्थता वा सत्यता की प्राप्ति होती है। "श्रद्धावान् हि लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः", श्रद्धा के साथ संयतेन्द्रिय होना भी आवश्यक है ॥

वर्त्तमान प्रचलित शिक्षा से मन की शुद्धि असम्भव

फिर आजकल की शिक्षा से मन शुद्ध वा परिमार्जित हो सके, यह तो लगभग असम्भव ही है। ऐसी शिक्षा जिसका कोई आदर्श वा उद्देश्य नहीं, जिसकी सम्पूर्ण भित्ति अभारतीय (विदेशी) आदर्शों पर

खड़ी की गयी हो, जो पाश्चात्य भूमि से संगृहीत वा समानीत हो, जिसके मूल में भारतीयता से दूर ले जाने की भावना सदा अग्रसर रही हो। जिसमें इङ्गलैण्ड में बैठे व्यक्तिविशेषों वा शासक वर्ग की अपने शासन चलाने मात्र की भावना रही हो। जैसा कि हम पूर्व दर्शा चुके हैं। जिन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता से भारत में, उसके स्वतन्त्र हो जाने पर भी, बहुत बड़ी संख्या में, एक भारी ऐसा समुदाय पीछे छोड़ा हो, जो विदेशी शिक्षा से दीक्षित, देखने में भारतीय, परन्तु रुचि-विचार-भाषा में (पर्याप्त अंश तक), और भावों की दृष्टि से शुद्ध अभारतीय हों। जहाँ मुसलिम राज्य के ६००-७०० वर्षों में घोर अत्याचार और आक्रमण होने पर भी हमारी भारतीयता अक्षुण्ण रही हो, वहाँ पिछले केवल दो सौ २०० वर्ष के अङ्ग्रेजी राज्य में हमारी भारतीयता एक चौथाई ही रह गयी प्रतीत होती है। देश का दुर्भाग्य है कि भारत स्वतन्त्र हो जाने पर भी देश के वर्त्तमान नेता या संचालक निश्चय ही तीन चौथाई अभारतीय भावनाओं से अनुप्राणित हैं, जिन्होंने माता की घुट्टी में ही अभारतीय भावनाओं का दुग्धपान, चाहे विदेशों में वा भारत में किया है, अर्थात् अङ्ग्रेजों के अपने स्वार्थ के लिये चलाये शिक्षाक्रम से ही शिक्षा-दीक्षा ली है, वे चाहते हुये भी भारतीय भावना तक नहीं पहुँच सकते। जैसे बाहिर का खादी क्या करेगा जब उनके घरों में विदेशी और केवल विदेशी वस्तुओं का ही साम्राज्य है, वैसे ही ऊपर से भारत—भारतीय और भारतीयता का उद्घोष करनेवालों के हृदयों में अभारतीयता का बीज ही नहीं, अपितु महान् वृक्ष उत्पन्न हो चुका है, जो इन लोगों की क्रियाओं द्वारा समय-समय पर सामने आता रहता है। देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है।

क्या जिसने किसी भारतीय शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, जो संस्कृत भाषा समझ तक नहीं सकता, जो विदेशी भाषा का ही ज्ञाता हो, जो अभारतीय संस्कृति का उपासक ही नहीं, इस भारत में उसका प्रसारक हो वैसा कि गत ११ वर्ष में रहा, क्या ऐसे व्यक्ति के द्वारा

भारत में भारतीय शिक्षा का उद्धार सौ वर्ष में भी हो सकता है !!! यह सब मृगतृष्णा के समान है ॥ ऐसे लोगों के हाथ में शिक्षा का संचालन वा संरक्षण रहा, आगे की भगवान् जाने। भारतीय शिक्षा का शुद्ध स्वरूप कदापि नहीं बन सकता। जो कुछ यत्न भी हो रहा है, वह पत्तों पर पानी छिड़कने के समान है, मूल तक पहुँचने की कुछ भी चिन्ता नहीं, ज्ञान नहीं ॥

भला ऐसी शिक्षा के प्रभाव से मन शुद्ध और संयत होना तो दूर रहा, वह तो सर्वांश में ही चित्त का विक्षेप करनेवाली है, क्या इसको भी बतलाने की आवश्यकता है ? इसलिए जब तक मन शुद्ध-संयत और शासित न हो, तब तक उसका संचालकत्व वा नियन्तृत्व स्वीकार करना कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इसी कारण संसार में इतना क्षोभ और विडम्बना फैल रही है। इसी कारण मानव-जीवन या समाज-जीवन में बार बार पतन वा स्खलन देखा जाता है, और विचारों में पुनः-पुनः भ्रान्ति उत्पन्न होती देखी जाती है। जहाँ व्यक्ति की यह दशा है, वहाँ समष्टि-समाज की अवस्था भी यही दृष्टिगोचर होती है, सब रोगों का मूल यही है, सर्वविध भ्रष्टाचारों की जननी यही है। जहाँ दृष्टि डालो, चोरी-भ्रष्टाचार का बाजार पूरे यौवन पर है। चोरों की गिनती करना असम्भवप्राय हो रहा है। वर्त्तमान शिक्षा ही इन सब चोरों वा चोरियों-भूलों-त्रुटियों रूपी रोगों की जननी है। चोर को न मारो, चोर की माँ को मारो, अर्थात् वर्त्तमान शिक्षा की बुराइयों को मूल से उखाड़ना होगा, तभी रोग मूल से जायगा, अन्यथा रोग बना रहेगा, ऊपर से शरीर स्वस्थ भले ही प्रतीत होता रहे ॥

हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि सब मनुष्यों का मन शुद्ध वा संयत नहीं हो सकता। सब संयम करके कार्यक्षेत्र में नहीं उतर सकते। क्या यह कार्य बिना परिश्रम के यों ही सिद्ध होनेवाला है, कदापि नहीं। जिन लोगों का ज्ञान समुन्नत है, साधना में भी तत्पर हैं। तपस्या में भी आगे बढ़े हुए हैं। जब ऐसे लोग भी एक जन्म में

यत्न द्वारा मन को पूरा संयत नहीं कर पाते, तो जो मनुष्य प्रकृति और भाषा को छोड़कर शेष सब क्रियाओं में पशु हैं (मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति) वा पशुओं के भी बड़े भाई हैं, जो सदा इन्द्रियों की ताड़ना से परास्त वा समाधान की पिपासा से अस्थिरमति हैं, जिनकी मानसिक स्थिति सदा ही डामाडोल अनिश्चित रहा करती है, जिनका उद्देश्य वा स्तर बहुत नीचे वा अपवित्र रहा करता है, जो घृणित से भी घृणित व्यक्तियों के पीछे दौड़ते हैं और उनके परिचयमात्र प्राप्त करने में भी अपने आपको कृतकृत्य समझते हैं, भला ऐसे लोग दुर्जेय मन पर कभी विजय प्राप्त कर सकते हैं ? यह सब मृगतृष्णा खपुष्पवत् असम्भव ही है, ऐसा समझना चाहिए ॥

प्रचलित शिक्षा वा क्रम हमारे इस ध्येय को पूरा कदापि नहीं कर सकता, यह बात हमको यहाँ तक समझ लेना है। पत्तों को पानी देने से कुछ न बनेगा। सींचना है तो मूल को ही सींचना होगा। उपाय क्या है इस पर हम आगे विचार करेंगे ॥

उपाय क्या है ?

भारतीय शास्त्र न केवल भारत की ही, अपितु संसार की अपूर्व सम्पत्ति है। शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। बिना सिखाये किसी को कुछ भी नहीं आ सकता। ऋषि-मुनि-आचार्य वा नेता सब नहीं हो सकते, क्योंकि मन की गति विचित्र है। मन पर ही सारी बागडोर नहीं छोड़ी जा सकती, क्योंकि इससे जीवनरूपी नौका पार लग जायगी, यह आश्वासन कभी नहीं मिल सकता। केवल प्रतिभा भी नायकत्व करने में असमर्थ है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली तो मन की शुद्धि वा कर्मशुद्धि में साधक हो ही नहीं सकती, बाधक अवश्य है ॥

ये सब विचार हम पहिले विज्ञ पाठकों के समक्ष सहेतुक रख चुके हैं। अब हम यह बताना चाहते हैं कि उपाय क्या है ? जब

प्रचलित ज्ञान वा प्रतिभा भी हमारा साथ नहीं देती, तब हमें इनसे ऊपर उठकर ही देखना होगा ॥

यदि यह कहा जावे कि जब मनुष्य के लिए शासित और शुद्ध अन्तःकरण होकर कार्यारम्भ करना साधारणतया असाध्य है, तो कर्म में प्रवृत्त न होकर हम एकदम निष्क्रिय ही क्यों न हो जावें। सो भी ठीक नहीं। संसार का कर्म-प्रवाह कभी बन्द होनेवाला नहीं। प्रयत्न जीव का स्वाभाविक लक्षण है। स्वाभाविक गुण सदा बना रहता है। सतत क्रियाशील रहना मन का धर्म है। मन तो किसी न किसी क्रिया में संलग्न रहेगा ही। और कुछ नहीं करेगा तो कार्यकलाप-सम्बन्धी विचार (चिन्तन) में ही व्यापृत रहेगा। कर्म से कभी विरत रहे, सो नहीं। इसीलिए मन सन्मार्ग में नहीं चलेगा, तो असत्य मार्ग में ही चलने लगेगा। शुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं होगा तो अशुभ कर्म में ही प्रवृत हो जायगा। जोड़ेगा नहीं, तो फोड़ने ही लग जायगा। स्वर्ग (सुख-विशेष) का मार्ग नहीं पकड़ेगा, तो नरक दुःख-विशेष का मार्ग ही ग्रहण कर लेगा ॥

यदि कोई कहे कि मन की गति ही बन्द कर दी जावेगी। जैसे खूँटे से बँधा बैल चाहे भी तो किसी को मार नहीं सकता, बन्धा है मारेगा भी कैसे ? सो भी नहीं। 'मन को बाँधना' यह एक शब्दसमूह है, जिसका अर्थ अत्यन्त असाध्य ही समझना चाहिए। यह हम पहिले बता चुके हैं कि बड़े से बड़े बाँध बाँधकर तीव्रगामी बड़ी २ नदियों के वेग को रोका गया देखा जा सकता है जैसा कि भारत में नांगलबाँध, उससे बड़े २ कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं, परन्तु मन के रुकने में सन्देह ही बना रहता है। 'न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' मन तो कभी रिक्त नहीं रह सकता। उसको बाँध दिया जावे, वह कुछ भी न करे, यह तो असम्भव ही है, जैसा कि हमने ऊपर दर्शाया। हाँ ! उस के वेग की दिशा बदल देना सम्भव है, निर्दिष्ट स्थान वा उद्देश्य पर पहुँचने का यही एक उपाय है ॥

मलिन मन मलिनता को बढ़ाता है

इस विवेचन से यह बात सहज ही समझ में आ जाती है, कि अशासित मनवाला व्यक्ति संसार में समस्त दुष्कर्मों की सृष्टि ही करता रहेगा, सुकर्म की नहीं। जैसे अशासित हस्ती सदा ही भयङ्कर परिस्थिति को उत्पन्न करता रहेगा, वैसी ही अवस्था अशासित मनवाले व्यक्ति की होती है। जब ऐसा ही है, तब क्या असंस्कृत अशासित मनवाले व्यक्तियों द्वारा प्रतिदिन महान् अपकर्म समूह संगृहीत होता जायगा या नहीं? और यह अपकर्म समूह सञ्चित और वर्द्धित हो कर संसार-क्षेत्र में अति प्रबल और भयङ्कर कर्मविभ्रान्ति उत्पन्न करेगा वा नहीं? जब एक तड़ाग (तालाब) में गन्दे पानी की नालियाँ धड़ा-धड़ और बड़ी संख्या में प्रतिक्षण पड़ती जा रही हों, तो भला उसका पानी पीने योग्य किसी प्रकार रह सकता है? उस गन्दे पानी के संग्रह से कितनी घोर दुर्गन्ध (सडांद) उत्पन्न होगी, यह सहज में समझा जा सकता है। इसी प्रकार अशासित मनवाले व्यक्तियों द्वारा वह अपकर्म समूह वा कर्मविभ्रान्ति समस्त विषमताओं—विपरीत भावनाओं—पाप और अशान्ति का कारण बनकर मानव-समाज को विक्षुब्ध वा ध्वस्त करेगी या नहीं? ऐसी अवस्था में जो संसार में अपने पूर्वसञ्चित अपकर्मों के मल को दूर करने के लिए मनुष्यदेह पाकर अपने अभ्युत्थान की अनेकविध आशाओं को लेकर अग्रसर हो रहा है, उसकी क्या दशा होगी? अपकर्म-जनित मैल को धोने के लिए साधन ही न रहेगा, तब तो नरक ही भरेगा, उस नरक में से कोई निकल तो पायेगा नहीं, आत्मशुद्धि होगी नहीं। जिस मनुष्य ने मोक्ष (दुःखात्यन्तनिवृत्ति) का यात्री होकर अमृतत्व का अधिकारी होने के लिए मर्त्यलोक में जन्म लिया है, उस मनुष्य की क्या दशा होगी? संसार की परिस्थिति ही अस्तव्यस्त हो जायगी। इसलिए हमने ऊपर कहा कि शासित मन ही शासित हस्ती के समान निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा सकता है, अशासित कदापि नहीं॥

ऋषियों का आश्रय

मनुष्यकृत पुञ्ज २ अपराध और अपकर्मजनित कर्मविभ्रान्ति से संसार को बचाने के लिए ही महापुरुषों का आविर्भाव हुआ करता है। हमें ऐसी आत्माओं का आश्रय वा शरण लेनी होगी। ऐसे महापुरुषों का ही हमें पल्ला पकड़ना होगा जो निश्चित ही शासितमन, समुन्नतबुद्धि और "परोपकाराय सतां विभूतयः" जन-समाज के अयाचित हितैषी हों। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः', जिन्हें पर, अपर का साक्षात् दर्शन = ज्ञान हो चुका हो। जो स्वाति नक्षत्र (जिसमें वर्षा होने पर जल की प्रत्येक बूँद मोती-मुक्ता का रूप धारण कर लेती है) के समान मानव-समाज में उदित होकर मानवलोक में कल्याण-जल की वर्षा करते हैं। संसार के प्राणरूप होकर पतनोन्मुख समाज को अनुप्राणित वा सजीव बना देते हैं। और उसके प्रवाह को बदल देते हैं, और उसको कल्याणोन्मुखी करने के लिए केवल शिक्षा वा उपदेश देकर ही शान्त नहीं हो जाते, अपितु जो कुछ भी यथार्थता है, श्रेयः है, उसे ही जीवन का लक्ष्य वा ध्येय बनाकर मनुष्यकृत पुञ्ज २ अपराध और अपकर्मजनित कर्मसमूह से बचाने में समर्थ होते हैं, स्वयं सन्नद्ध हैं। जिन्हें इसके लिए किसी प्रतीकार की आवश्यकता ही नहीं, अपि तु इच्छा भी नहीं होती। जो भूत-वर्त्तमान और भविष्यत् को ध्यान में रखकर मानव-समाज का भविष्य निर्धारित करने में कुशल होते हैं। जिन्हें किसी विशेष-वर्ग जाति वा देश का प्रेम वा मोह ही न हो, अपितु मानवमात्र को सुमार्ग पर ले चलने की सच्ची और उत्कट भावना हो। ऐसे ही उच्च आत्मा संसार के कर्णधार और समाज के नायक हो सकते हैं। वे ही जीवन-यात्रा के परिचालक हो सकते हैं। यह लोग जन-साधारण की भाषा में 'महापुरुष', ज्ञानियों की भाषा में 'आचार्य', आधुनिक भक्तजनों की परिभाषा में 'अवतार', और शास्त्र की परिभाषा में 'ऋषि' कहलाते हैं।

ऋषि वा आचार्य का लक्षण

हर किसी को महापुरुष, आचार्य वा ऋषि नहीं कहा जा सकता, वा माना जा सकता है। अज्ञ जनता में इन शब्दों का दुरुपयोग वा मिथ्याप्रयोग होते प्रायः देखा जाता है। शास्त्र तो "साक्षात्कृतधर्मा" जिसे धर्म का साक्षात्कार हो, उसे ही 'ऋषि' कहता है। जिसको जिस विषय का साक्षात् ज्ञान है, वह उस विषय का 'ऋषि' कहाता है। वैदिक साहित्य में तो 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्श' (निरुक्त) मन्त्रार्थ द्रष्टा को 'ऋषि' कहा गया है। संसार को मार्ग दर्शानेवाले को 'ऋषि' कहते हैं। महामुनि पतञ्जलि महाभाष्य में 'ऋषिः पठति शृणोत ग्रावाणः' में 'ऋषिर्वेदः' वेद को ही 'ऋषि' बतलाते हैं।

'आचार्य' शब्द यद्यपि ऋग्वेद, यजुः, साम-तीनों में नहीं आया। अथर्ववेद ११।५ ब्रह्मचर्यसूक्त में "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः" (अथर्व० ११।५।३) 'आचार्य' का जो निरूपण किया गया है, उसके आधार पर ही सभी धर्मशास्त्रों ने 'आचार्य' का लक्षण प्रायः समान ही किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मानवधर्मशास्त्र २।१४०)

इसका यही अभिप्राय है कि जो ८ वर्ष से लेकर कम से कम २५ वर्ष की आयु तक बालक के आचार-व्यवहार तथा उसके समस्त ज्ञान-विज्ञान का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले, सकल्प और सरहस्य वेद का अध्ययन करावे, वही 'आचार्य' कहाता है॥

निरुक्तकार यास्कमुनि ने भी 'आचार्य' का लक्षण निम्नप्रकार किया है—

"आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा"॥ (निरुक्त अ० १।)

जिसका भाव भी यही है, जो ऊपर कहा गया है। नवीन युग वा नव-भारत के निर्माता ऋषि दयानन्द 'आचार्य' का लक्षण करते हैं—

"आचार्य उसको कहते हैं जो साङ्गोपाङ्ग वेदों के शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपट रहित, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन और धन से सबको सुख बढ़ाने में जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय हो (संस्कारविधि उपनयन संस्कार)॥

"आचार्य" पदवी कितनी पवित्र, उच्च, उत्तरदायित्वपूर्ण है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। सुगन्ध वह है जिसे नासिका इन्द्रिय कहें, न कि वह जो उसका बेचने वाला कहे। इसी प्रकार "आचार्य" की सुगन्ध उसके अपने जीवन से ही मिलती है, न कि स्वयं कहने से या कहलाने से॥

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त आचार्य और ऋषि ही मानव-जाति को ऊँचा उठा सकते हैं। ऐसे महापुरुषों के बिना मानवीय जीवनरूपी नौका निर्दिष्ट वा अभीष्ट स्थान पर पहुँचेगी, इसमें सन्देह ही बना रहेगा। अतएव मानवीय जीवन की सफलता वा लक्ष्यपूर्त्ति का एकमात्र साधन ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट (आर्ष) मार्ग वा प्रणाली का अवलम्बन है। मानव-समाज सदा ही दुःख-अशान्ति—परस्पर विरोध-विद्वेष-स्वार्थपरता, परहितहानि और विक्षुब्धता की भावनाओं से निरन्तर ओत-प्रोत रहेगा, जब तक ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट आर्ष मार्ग वा प्रणाली का आश्रयण नहीं करेगा, क्योंकि 'सत्यं वै देवाः अनृतं मनुष्याः' (शतपथ) देव, ऋषि लोग ही पूर्णज्ञानी-निरपेक्षसत्यनिष्ठ-निरीह-सर्वकाल परहित में रत होते हैं, मनुष्य में तो कुछ न कुछ न्यूनता बनी ही रहेगी। ये सब भाव 'ऋषि' और 'आचार्य' शब्दों में अन्तर्निहित हैं, यही हमको कहना है॥

ऋषियों का स्थायी दर्शन
साहित्य रूपी संजीवनी शक्ति का प्रादुर्भाव

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि पतनोन्मुख समाज की रक्षा करने के लिए ही ये महान् आत्मायें समय-समय पर आती हों, सो बात नहीं, अन्य समयों में भी इनका प्रादुर्भाव अवश्य होता रहता है। ये मानवहित की भावना वा संकल्प में ही अपने पवित्र तथा उत्कृष्ट जीवन को यापन करते हैं, परन्तु समाज के ये प्राणरूप मानवरत्न सब समयों में, सब देशों में प्रादुर्भूत होते हों सो बात नहीं। अर्थात् मानवसमाज को उनकी जब आवश्यकता हो, तभी वे प्राप्य हों, ऐसा नहीं। दिन और रात्रि की भान्ति नियत अवधि के पश्चात् ही हमें जैसे सूर्य का दर्शन अविलम्बित होता रहता है, ऐसे ही ये महापुरुष जब हम चाहें, जब हमें उनकी वा उनके नेतृत्त्व की अनिवार्य आवश्यकता हो, तभी हम उन्हें पा सकें, ऐसा नहीं हो सकता। 'यावत् चन्द्रदिवाकरौ' सर्वकाल वे बने नहीं रह सकते। एक परिमित अवधि में सशरीरी का अन्त अनिवार्य है। 'भस्मान्तं शरीरं' (वेद) शरीर का नष्ट होना अनिवार्य है। ये तो सच्चिदानन्दस्वरूप महान् प्रभु की अल्पकालिक देन होते हैं, उसकी व्यवस्थानुसार ही उनका प्रादुर्भाव हुआ करता है। कहना यह है कि पापनाशक पवित्र संसर्ग, अर्थात् इन उपर्युक्त ऋषि-मुनि-आचार्यों की सत्सङ्गति सबको सब समय में हो नहीं सकती। देहधारी होने से ये परिमित आयुवाले ही रहेंगे, अपरिमित आयुवाले नहीं। दो-चार पीढ़ी तक ही मानव-समाज इनकी सङ्गति से उपकृत हो सकेगा, सदा के लिए नहीं और सब स्थानों में नहीं। उनके अभाव में मानव समाज को लोकसाधारण के प्रमादपूर्ण नेतृत्त्व अर्थात् अशासित मनवाले व्यक्तियों के समूह का नेतृत्त्व ही स्वीकार करना होगा।

ऐसी अवस्था में उन पवित्र आत्मा ऋषियों के अभाव में मानव-समाजकृत अपकर्म-समूह के सतत अनुष्ठान से संसार में पुनः पुनः अप-

कर्मजनित राशि वा अपार कर्म-विभ्रान्ति (कोई शोधक वा नायक न होने से) सञ्चित होने लगेगी। इन पवित्र आत्मा ऋषियों के पश्चात् भी मानव-समाज अपने जीवन को सर्व प्रकार संयत रख सके, शासन के बाहिर न जा सके, इसके प्रतीकारार्थ पूर्वोक्त महापुरुष-नेता-ऋषि वा आचार्य साहित्य-निर्माण की संजीवनी-शक्ति का आश्रय लेकर, मानव-हित की दृष्टि से चिरञ्जीवी रहने की इच्छा करते हैं, वा लोक उनके चिरञ्जीवी रहने की इच्छा करता है, और वे लेखबद्ध होकर चिरञ्जीवी बनने लगते हैं, और अपनी-अपनी कृतियों अर्थात् शास्त्रों के भीतर अपने अपने विचारों के अनुरूप शाब्दिक देहधारी बनकर मनुष्यों को सर्वकालिक तथा सार्वदेशिक शिक्षा प्रदान करते हैं। इस प्रकार उनकी हित-भावना वा लोक-उपकार का स्रोत बन्द न होकर सदा सर्वदा और सर्वत्र उनके द्वारा दर्शाये मार्ग को वा शास्त्ररूपी कम्पास को निरन्तर बनाये रखता है।

ग्रन्थ-प्रणयन का इतिहास

ग्रन्थ-निर्माण का यही इतिहास है। इसीलिए यास्कमुनि अपने निरुक्त में कहते हैं कि जब सर्वसाधारण की शक्ति में ह्रास होने लगा, (क्योंकि वैदिक सिद्धान्त तो ह्रासवाद को मानता है, विकासवाद को नहीं, शनैः-शनैः मनुष्य की शक्ति में कमी होती जाती है, वृद्धि नहीं) तब ऋषियों ने यह देखकर कि यह वैदिक विज्ञान—वेद का तत्त्व कहीं संसार से लुप्त ही न हो जावे, वेदाङ्गों की रचना की, जिसमें वेदार्थ की परम्परा निरन्तर बनी रही। महामुनि पतञ्जलि ने भी व्याकरण शास्त्र बनाने के १८ प्रयोजन बताये, जिनमें सर्वप्रथम और सर्वमुख्य 'रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् (महाभाष्य) वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण अध्ययन अनिवार्य है। इसके लिए व्याकरण का निर्माण हुआ, निरुक्तकार का वह प्रसिद्ध वचन निम्न प्रकार है—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राहुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे

विल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च" (निरु० १।२०) ॥

पाठक इस स्थल की विशद व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तृतीय सं० पृष्ठ ३६८ पर, वा हमारे बनाये "वेद और निरुक्त" नामक ग्रन्थ पृ० ५, ६ में देखें।

हमें यहाँ यह बताना है कि ग्रन्थों का निर्माण कैसे आरम्भ हुआ। सर्वसाधारण की स्मृतिशक्ति तथा धारणाशक्ति में ह्रास आ जाने पर ही ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पहिले ग्रन्थों की आवश्यकता ही नहीं थी, धारणाशक्ति वा स्मरणशक्ति से ही सब कार्य चल जाता था यह बात बुद्धि और इतिहास द्वारा सिद्ध है।

ऋषि लोग अब भी वर्त्तमान हैं

क्या कोई कह सकता है कि पाणिनि वा पतञ्जलि मर गये। गोतम और कणाद नहीं हैं। व्यास और जैमिनि का अब दर्शन कैसे हो? वाल्मीकि और योगिराज कृष्ण नहीं रहे। क्या शङ्कर और दयानन्द सदा के लिए लुप्त हो गये। क्या इन सब ऋषियों, पवित्र महान् आत्माओं की मृत्यु हो गई? कदापि नहीं। क्योंकि जब भी इन व्यक्तियों से बात करना चाहो, इनकी सङ्गति प्राप्त करना चाहो, जीवन-सम्बन्धी प्रकाश इनसे लेना हो, सामने खड़ी आलमारी के पास जाइये, जिनसे भी बात करना हो, उनकी कृति—पवित्र ग्रन्थ उठाकर देखिये, वह क्या कहते हैं। देखनेवाले के नेत्र होने चाहिएं। अवश्य दर्शन होगा जो चाहे दर्शन कर ले। महापुरुष किसी जाति वा देश विशेष की सम्पत्ति वा धरोहर नहीं होते, वे तो मानवमात्र के आत्मीय होते हैं और मानव-समाज उनका आत्मीय होता है। वे केवल भारतनिवासियों के गृहों में ही निवास करते हों, सो बात नहीं। अपितु जर्मनी-इङ्गलैण्ड-अमेरिका-फ्रांस-रूस और जापान आदि भूमण्डल के सभी देशों के पुस्तकालयों में बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान मिलेंगे। वे ब्रह्मज्ञान वा वैदिकज्ञान के गम्भीर तत्त्वों को भारतनिवासियों पर ही व्यक्त नहीं करते, अपितु

विश्व के समस्त देशों के समक्ष अपनी व्याख्यायें सदा प्रस्तुत करते हैं। ऐसे एक-दो हों, सो बात नहीं, जो भी महापुरुष भारतसमाज के गौरव रूप होकर पृथिवी में प्रसिद्ध हुए, जो आर्यावर्त्त के भूषण, आर्यजाति के शिरोमणि रूप से आज भी संसार में सम्मानित हो रहे हैं, वे प्रायः सभी आज भी शब्दरूपी देहधारी होकर अपने-अपने ग्रन्थों के भीतर विद्यमान हैं। वही मनु और वाल्मीकि, वही पाणिनि और पतञ्जलि, वही कणाद और गौतम, वही जैमिनि और व्यास, वही वसिष्ठ और याज्ञ-वल्क्य, अपने-अपने रचे शास्त्रों में शाब्दिक देहधारी होकर भारत के प्रदेशों में आज भी विद्यमान हैं।

भारत का ही नहीं, संसार का परम सौभाग्य रहा कि इनकी कृतियाँ मानव समाज को निरन्तर मिलती जा रही हैं। अनेक विप्लव और विद्रोहों के अनन्तर भी, सैकड़ों बार नष्ट किये जाने पर भी उनकी कृतियाँ मिलती चली जा रही हैं, सङ्कट आने पर भी आज तक हमारे पूर्वजों ने इन्हें कण्टस्थ रख कर भी इनकी सदा रक्षा की॥

राजा जयकृष्णदास का महान् उपकार

वर्त्तमान नवीन भारत के निर्माता, प्राचीन ऋषि-मुनियों के प्रति-निधि महान् दयानन्द की विचारधारा को शाब्दिक देहधारी (ग्रन्थ) रूप में लाने का सोभाग्य मुरादाबाद निवासी राजा जयकृष्णदास जी को है, जिनकी अपूर्व दूरदर्शिता तथा भक्तिपूर्ण प्रेरणा से कौपीनधारी, गङ्गातट की रेती में विचरता हुआ वह महान् दयानन्द आज भी शाब्दिक देहधारी होकर हमारे सामने प्रस्तुत है। जिनको पहिले अपने विचार स्वयं न लिखकर अपनी विचार-धारा केवल बोलकर लिखा देने पर ही उद्यत किया गया था या वह उद्यत हो गये, ऐसा करना मान गये। नहीं तो दयानन्द सदा के लिए लुप्त हो जाते। भावी सन्तति आर्यसमाज फर्रुखाबाद को सदैव स्मरण करती रहेगी, जिसने लंगोटबन्द दयानन्द को वेदभाष्य जैसी अपूर्व रचना के लिए आरम्भिक

सहायता देकर, भारत की नहीं, संसार की एक अपूर्व सेवा की। उक्त राजा जयकृष्णदास तथा आर्यसमाज फर्रुखाबाद ने दयानन्द को जो सत्यार्थप्रकाश-संस्कारविधि-वेदभाष्यादि में शाब्दिक देहधारी दयानन्द बना दिया, इसके लिए आर्यजाति इनकी सदा ऋणी रहेगी। जीवन-सम्बन्धी किसी समस्या का हल चाहो, सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका उठाकर जब देखो, दयानन्द उसमें बोलता हुआ मिलेगा।

शास्त्ररूपी कम्पास

कौन कहता है कि भारत में ऋषि वा आचार्य नहीं रहे। भारत अनाथ है कदापि नहीं। इस प्रकार हम पूछते हैं, शास्त्र के समान सार्वकालिक वा सार्वभौम वस्तु और कौन-सी है ? शास्त्र जैसा सार्वकालिक मित्र वा अयाचित हितैषी और कौन हो सकता है। मानवसमाज की रक्षा के लिए शास्त्र सर्वकाल प्रहरी बनकर खड़ा रहता है। सदा मार्ग दर्शाने में तत्पर वा उपस्थित रहता है। शास्त्र ही कर्म-अकर्म-विकर्म का विवेचन करते हैं। क्या सत्य है क्या असत्य, इसका विवेचन शास्त्र करता है। मनुष्य जितनी बार भी दुर्निवार इन्द्रिय दंश से दष्ट होकर क्षत-विक्षत होता रहता है, शास्त्र उतनी बार ही उस पर औषध लगा कर मनुष्यमात्र का उपकार करते हैं। उपाय बताते हैं, अन्धकार दूर-कर प्रकाश की रेखा खींच देते हैं, जिससे यह सहस्रछिद्रयुक्त मानवरूपी नौका संसारसागर के भयङ्कर भँवरों में पड़कर डूब न जाये, उसके निमित्त शास्त्र कम्पासरूपी यन्त्र बनकर मनुष्य के सामने विद्यमान रहते हैं॥

नान्यः पन्था विद्यते

इसीलिए हमारा कहना है कि शास्त्र सार्वभौम-सार्वकालिक मित्र वा अयाचित हितैषी है, और कोई नहीं। शास्त्र किसी एक वर्ग, जाति वा देश का न होकर मानवमात्र का होता है, वास्तविक स्थिति यही है। वेद-उपनिषद्-भगवद्गीता-रामायण-महाभारत और सत्यार्थप्रकाश किसी एक देश, वर्ग वा जाति की सम्पत्ति नहीं हैं। भगवद्गीता संसार

के प्रायः सभी देशों में मूल तथा तत् तद् देश की भाषा में टीकासहित प्रकाशित हुई है। आप भारतवर्ष के ऋषिमुनियों के जितने ग्रन्थ पावेंगे प्रायः करके उन पर कर्त्ता का अपना नाम तक नहीं मिलेगा। कापी राइट का तो प्रश्न ही क्या !!

अतः हम सार्वभौम-सार्वकालिक वा अयाचित हितैषी = पुरोहित (जो बिना ही कहे, पूछे सर्वकाल में हित का ही निर्देश करता है) अर्थात् शास्त्र का आश्रय लेना परमावश्यक है। मानव-समाज के उत्थान वा कल्याण का यही उपाय है—

"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (वेद)

और कोई दूसरा मार्ग नहीं, जो मानव को उसके निर्दिष्ट ध्येय तक पहुँचा सके ॥

संसार को इस मर्म वा रहस्य को जानने वा जनाने की आवश्यकता है। समय आवेगा जब इस महा सन्तप्त वा अत्यन्त विक्षुब्ध संसार को आर्ष ज्ञानरूपी कम्पास का आश्रय लेना होगा। और प्रतिक्षण वायु-मण्डल में मण्डलाते रहने वाले युद्धरूपी मेघ नष्ट होकर मानव जाति सुख वा शान्ति के शुभ दर्शन कर सकेगी !!!

शास्त्र-प्रधान आर्यजाति का फिर नाश कैसे हुआ, अमृतरूप शास्त्र में विष का अंश है या नहीं, शास्त्रशुद्धि की परमावश्यकता क्यों है, शास्त्र-शुद्धि से ही कर्म-शुद्धि होगी। वर्तमान शिक्षा किसी प्रकार की भी शुद्धि करती है या नहीं, अथवा कहाँ तक विविध अशुद्धियों का ही सृजन करती है, इत्यादि विवेचन हम आगे करेंगे ॥

शास्त्रशुद्धि

मलिन मन मलिनता को ही बढ़ाता है। अशासित मनवाला व्यक्ति अपकर्मों के समूह को उत्पन्न करता हुआ कर्मविभ्रम-विपरीत भावनाओं पाप वा अशान्ति का ही कारण बनेगा। मनुष्यकृत पुञ्ज २

अपराध और अपकर्मजनित कर्मसमूह से बचाने के लिए ही ऋषियों का आश्रय लेना अनिवार्य है। ऋषि ग्रन्थरूप शरीर धारण कर सदा विद्यमान रहते हैं। दूसरे शब्दों में शास्त्ररूपी कम्पास जीवनरूपी पोत (नौका) को निर्दिष्ट-गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं, चक्षु तथा बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता है। यह हम पूर्व कह चुके हैं।

अब हमें आगे यह विवेचना करनी है कि संस्कृत भाषा में अब तक जो कुछ भी लिखा जा चुका है, वह सबका सब ग्राह्य है वा नहीं? शास्त्र हैं, ऋषियों का बनाया है? इसका उत्तर एक शब्द में यही है कि नहीं। संस्कृत भाषा में लिखी गई ग्रन्थराशि में तो अच्छे-बुरे सभी ग्रन्थ हैं। संस्कृतसाहित्य में वेद-उपवेद, ब्राह्मण-उपनिषद्-वेदाङ्ग-उपाङ्ग-रामायण-महाभारत आदि सब रत्न हैं, उसी राशि में वाम-मार्ग के अत्यन्त गन्दे और बीभत्स ग्रन्थ भी हैं। कहना होगा कि एक ही राशि में अमृत और विष भरा है। यदि ऐसा है, अथवा जब यह बात समझ में आ जावे कि संस्कृतसाहित्य में अमृत और विष का मिश्रण है, तब यह विवेचन अनिवार्य हो जाता है, कि हमें विष और अमृत का विश्लेषण करना ही होगा। इस विवेचन में अत्यन्त ही सावधानता और योग्यता की आवश्यकता है।

आज का हमारा मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है। शास्त्रशुद्धि से हमारा यही अभिप्राय है इस विष और अमृत के मिश्रित ढेर में से हमें विषयुक्त अंश छोड़ देना होगा, तभी शास्त्र विशुद्ध रूप में हमारे सामने आयेगा॥

शास्त्रप्रधान आर्य (हिन्दू) जाति

यह मानना पड़ेगा कि भारत जैसा शास्त्रप्रधान देश तथा आर्य (हिन्दू) जाति जैसी शास्त्रप्रधान जाति संसार में कहीं नहीं मिलेगी। शास्त्र की आवश्यकता अनिवार्य है। यह हम ऊपर कह चुके। ऋषियों

की, वा शास्त्र की, या धर्म की गहरी छाप हमें भारत के प्रत्येक आर्य (हिन्दू) परिवार में मिलेगी, चाहे उसका रूप कैसा ही हो, यह दूसरी बात है। राजा से रङ्क तक आबालवृद्ध स्त्री हो या पुरुष शास्त्ररूपी पुल के नीचे से सबको निकलना पड़ता है। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त १६ संस्कार तो भला शास्त्रीय हैं, जिनसे कोई आर्य नहीं बच सकता, इनसे अतिरिक्त कहीं-कहीं किस-किस प्रकार के अनुष्ठान, धार्मिक क्रियायें, भिन्न-भिन्न विश्वासों के आधार पर यज्ञ-जप-दान-पुण्य आदि कार्यकलाप प्रतिदिन प्रत्येक परिवार में, प्रत्येक स्त्री-पुरुष द्वारा किये जाते हैं, इनकी कोई सीमा नहीं, और ये गणना में भी नहीं आ सकते। जब अखण्ड भारत की जनगणना सम्वत् १९५८ (सन् १९०१) में लगभग २१ करोड़ थी, तब भी भारत के देवताओं की संख्या ३३ करोड़ मानी जाती रही, जो अब तक भी मानी जा रही है। १ व्यक्ति के लिए १॥ डेढ़ देवता, वा एक परिवार के १० व्यक्तियों के लिए १५ देवताओं का हिसाब पड़ता है। यह कहाँ तक ठीक है, या इसका स्वरूप क्या है, सम्प्रति इस पर हम कुछ नहीं कह रहे। हमारा कहना यह है कि जीवन के सब स्तरों में, सब विभागों में आर्यों (हिन्दुओं) के समान और कोई शास्त्रानुवर्त्ती होकर चलने वाला नहीं। बुद्ध-शङ्कर-नानक-दयानन्द-टागोर-गान्धी-श्रद्धानन्द-मालवीय सुभाष-अरविन्द और पटेल इससे बचे हों, सो बात नहीं। माता स्वरूपरानी जीवित होतीं तो पता लगता कि धर्मनिरपेक्ष जवाहर के लिए क्या करतीं और किया होगा। राजेन्द्र बाबू-राजगोपालाचार्य-टण्डन-अम्बेदकर-श्यामाप्रसाद मुकर्जी-जयप्रकाश नारायण-घनश्यामसिंह गुप्त और स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की माताओं ने क्या-क्या मनौती मनाई होंगी, और शास्त्रानुवर्त्ती होकर क्या-क्या किया होगा !! कोई प्रत्यक्षदर्शी ही इसको ठीक-ठीक बता सकता है, अब ये लोग बातें चाहे कितनी कर लें, धर्मशास्त्ररूपी पुल के नीचे से निकले बिना इनमें एक नहीं बचा, यह तो निश्चित है। अम्बेदकर की माता ने भी न

जाने क्या-क्या कष्ट उठाकर आर्यधर्म की मर्यादाओं का पूर्ण श्रद्धा से पालन किया होगा ॥

भारत में शास्त्रनिरपेक्ष मत नहीं चल सकते

प्रसूतिगृह से लेकर श्मशान पर्यन्त जीवन के सब स्तरों में, सब विभागों में आर्यों (हिन्दुओं) के समान शास्त्र को मानकर चलनेवाला कोई शास्त्रानुवर्त्ती होकर चलने में समर्थ नहीं। शास्त्रविश्वास आर्य (हिन्दू) जाति के रक्त-मांस के साथ-साथ जुड़ा हुआ है। शास्त्रों में निष्ठा आर्यों (हिन्दुओं) के लिए स्वभावसिद्ध है। एकदम शास्त्र को अग्राह्य करके, शास्त्र को दूर फेंककर, इस देश में धर्म का सुधार तथा समाज का सुधार करना दोनों ही असम्भव हैं ॥

यह भी एक इतिहास की बात है कि हिन्दूधर्म में जिस जिसने और जब-जब भी शास्त्र को अग्राह्य करके वा दूर फेंककर देश में धर्म का सुधार या समाज का सुधार करना चाहा, वह कभी सफल नहीं हुआ।

देखिये। यदि गहराई से देखा जावे तो जैन और बौद्ध भी आर्यधर्म के अङ्ग 'अहिंसा' को लेकर ही तो प्रवृत्त हुए, जो आर्यधर्मशास्त्र सम्मत है। इसीलिए बौद्धमत-जैनमत का प्रचार भारत में पर्याप्त समय तक रहा। पीछे अनीश्वरवाद भक्ष्याभक्ष्य का त्याग वा दूसरे शब्दों में आर्य धर्मशास्त्र के परित्याग के कारण ही जैन और बौद्धमत भारत में उन्नति के शिखर पर पहुँचकर भी अन्त में एकदम अस्त हो गये। अपने पीछे अपनी एक स्मृतिमात्र छोड़ गये। भारतीय विभिन्न मत-प्रवर्त्तकों में जो भी हुए, इन्होंने यद्यपि कभी किसी शास्त्र का प्रमाण स्वीकार न भी किया हो, महात्मा बुद्ध ने यद्यपि स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं रचा, बौद्धधर्म किसी शास्त्र विशेष की अपेक्षा नहीं करता, पुनरपि बुद्ध के पीछे उनके अनुयायियों द्वारा उनके उपदेशों के संग्रह ने शास्त्र का रूप धारण तो कर ही लिया, तभी बौद्धधर्म इतने दिन तक जीवित रह

भी सका। शैव-वैष्णव-जैन-बौद्ध-कबीरपन्थी-नानकपन्थी—किसी को भी लें, ग्रन्थ (शास्त्र) का सहारा लेकर ही ये जीवित रहे वा रह रहे हैं। वामियों तक ने भी शास्त्र बनाया, चाहे वह पञ्च मकारों (मद्य-मांस-मुद्रा तथा मैथुन) का ही प्रतिपादन करता था। कोई सम्प्रदाय बिना शास्त्र के सहारे भारतभूमि में कभी बद्धमूल नहीं हो सका।

भारत में ब्राह्मसमाज क्यों नहीं पनपा ?

प्रत्येक मत वा सम्प्रदाय ने शास्त्र का नाम लेकर ही इस आर्य (हिन्दू) जाति को अपने विचार देने की प्रेरणा की। हम नहीं कह सकते भारत में ब्रह्मसमाज को छोड़कर कोई और भी सम्प्रदाय वा मत है, जिसने भारतीय साहित्य में किसी प्रचलित शास्त्र के किसी अंश को भी आधारभूत न मान कर, केवल अपनी अभिरुचि-तर्क वा स्वभावसिद्ध साधारण बुद्धि के ऊपर ही सम्पूर्ण रूप से निर्भर किया हो। पर क्या ब्रह्मसमाज इस देश की सर्वसाधारण हिन्दू जाति में बद्धमूल हो सका है वा हो सकता है ? और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्मसमाज किसी ग्रन्थ विशेष को निर्भ्रान्त रूप से ग्रहण नहीं करता। केशवचन्द्र सेनकृत नवीनवेद वा नवसंहितादि पुस्तकें ब्राह्मसमाजियों में निर्भ्रान्त शास्त्र रूप से नहीं मानी जाती ? क्या यह शास्त्रानुवर्त्तिता का द्योतक नहीं ? शास्त्र को तो माना, चाहे नये शास्त्र (?) की रचना कर ली। प्रचलित शास्त्रों को छोड़ देने, और नये कल्पित शास्त्र घड़ लेने से ही आर्य (हिन्दू) जाति ने ब्रह्मसमाज का ग्रहण नहीं किया।

राजा राममोहन राय आदि ने जब भारतीय संस्कृति-सभ्यता-साहित्य के प्राणरूप शास्त्रों को एक ओर उठाकर रख दिया, तभी ब्रह्मसमाज केवल एक योरोपीय सभ्यता का पुछल्लामात्र बनकर रह गया। केवल प्रवर्त्तक के बंगाली होने के नाते ही बंगाल में कुछ-कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है। अन्य प्रान्तों में क्यों नहीं फैला, कारण यही है कि ब्रह्मसमाज आर्यधर्म के आधारभूत शास्त्रों को छोड़कर चला॥

भारत में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की व्यापकता

दूसरी ओर जब हम आर्यसमाज को देखते हैं, तो यह हमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के कोने-कोने में पहुँचा हुआ मिलता है। जहाँ कहीं नहीं पहुँचा वह पहुँचाने वालों की कमी ही समझनी चाहिए, और कोई कारण नहीं। आर्यसमाज कहाँ तक व्यापक है यह देखना हो तो आर्यसमाज के किसी बड़े समारोह को देखें। सन् १९२५ की ऋषि दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर मथुरा में जब दो-अढ़ाई मील लम्बा जलूस निकला तो उसमें भारत के प्रत्येक प्रान्त के नर-नारियों की वैदिकधर्म में अपूर्वनिष्ठा, भिन्न-भिन्न भाषा, भिन्न-भिन्न वेषभूषा को देखकर एक बार तो दण्डी विरजानन्द और दयानन्द के स्वप्नों की पूर्त्ति की आशा से प्रत्येक आर्य का हृदय उल्लसित और उत्कण्ठित हो उठता था, देखें अबकी बार कैसा रहता है। जलूस की वह छटा देखने ही योग्य थी। इन पंक्तियों के लेखक ने उसमें एक स्थान पर खड़े होकर भारत के सब प्रान्तों की सब मण्डलियों की एक सूची तय्यार की थी। आर्य-समाज के बाह्य स्वरूप का वह एक अद्भुत भक्ति-श्रद्धापूर्ण प्रदर्शन था। इससे पता लगता था कि आर्यसमाज भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में फैल रहा है। जहाँ तक मुझे स्मरण है उसमें बंगाल और मद्रास की मण्डलियां भी थीं, अफरीका और बगदाद की भी। यह बात दूसरी है कि आर्यसमाज को अब बाह्य प्रदर्शन को छोड़कर आन्तरिक ठोस सुधार की योजनायें बनानी चाहिए।

शास्त्रों का परमभक्त स्वा० दयानन्द सरस्वती

कहना यह है कि भारत के शिक्षित वर्ग में आर्यसमाज ८० प्रति-शत हृदयों में स्थान पा चुका है, वाणी से चाहे कोई माने या न माने। कारण यह है कि आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द शास्त्र में परम निष्ठावान्—परम शास्त्रानुवर्त्ती, आप्त प्रमाण तथा प्राचीन ऋषियों में परम श्रद्धावान् थे। 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का

पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है' आर्य-समाज के इस नियम से ही महर्षि की हार्दिक भावना और शास्त्र में परम भक्ति का प्रमाण हमें मिल जाता है। इसीसे हम कहते हैं आय-समाज जिह्वा पर चाहे इतना व्यापक न हुआ हो, प्रत्येक समझदार भारतीय के हृदय में तो अङ्कित हो ही चुका है, जहाँ तक कि इसका प्रकाश पहुँचा है। आर्यसमाज का अपने इस गौरव की रक्षा करना परम कर्त्तव्य है।

अछूतपन के विरुद्ध आर्यसमाज शास्त्ररूपी शस्त्र लेकर खड़ा हुआ। जिसमें उसने अकथनीय कष्ट और यातनायें भोगीं। अज्ञ हिन्दू समुदाय वा वर्ग का कोपभाजन बनता रहा, यहाँ तक कि उसमें वीर रामचन्द्र जैसे आर्यवीरों के अनेक बलिदान अपने ही हिन्दू भाइयों के विरोध करने पर देने पड़े। (यवनों के विरोध में तो कोई गिनती नहीं, केवल हैदराबाद में ३६ बलिदान आर्यसमाज ने दिये, जब कि कोई विरोध में खड़ा तक न होता था हिन्दी आन्दोलन में दर्जनों बलिदान दिये। क्या ये बलिदान व्यर्थ जा सकते हैं।) अछूतपन के विरुद्ध आर्यसमाज के प्रचार का ही फल था कि महामना मालवीयजी ने भी अछूतों को मन्त्रदीक्षा देना आरम्भ किया। और महात्मा गांधीजी ने हरिजन-उद्धार का अनुपम कार्य किया। यह सब दयानन्द और आर्यसमाज के तप और परिश्रम का ही फल था। अब आगे भी इसीसे उद्धार होना है, ऊपरी बातों से कुछ न बनेगा॥

धर्मनिरपेक्ष राज्य चल नहीं सकता

यहाँ पर हम यह भी कह देना चाहते हैं कि यदि धर्म का अर्थ मत या मज़हब मात्र है, तब तो भारत अवश्य धर्मनिरपेक्ष राज्य है और होना चाहिए। पर यदि इसका यह अर्थ है कि इसको धर्म की आवश्यकता ही नहीं, तो यह असत्य है। क्योंकि धर्म तो वह है 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे लोक तथा परलोक

में अभ्युदय-कल्याण की सिद्धि हो। सार्वभौमिक-सार्वकालिक नियमों वा सर्वतन्त्र सिद्धान्तों 'जिनके विरुद्ध कोई भी नहीं हो सकता,' का ही नाम धर्म है। ऐसा धर्म संसार में सदा रहेगा, इसकी अवहेलना करने वाला स्वयं मिट जायगा। ऐसा धर्म अनिवार्यतः ग्राह्य है और रहेगा। यह धर्म कभी नहीं मिट सकता। यह निश्चय है कि हमारा यह स्वतन्त्र भारतराज्य ऐसे धर्म की अवहेलना कर पनप नहीं सकता, इस बातको भविष्य ही बतायेगा। अतः भारत को अपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के बताये मार्ग पर चलना ही होगा। तभी इसका भाग्योदय होगा। नहीं तो यह सदा ही विषमताओं से आक्रान्त रहेगा। धर्म वा कर्त्तव्य की भावना से ही रिश्वत, चोरबाजारी और अन्य घोर अनर्थ दूर होंगे। अतः पत्तों को पानी देने से कुछ न बनेगा, मूल में ही जल-सिंचन करना होगा, तभी भारत फले फूलेगा॥

वास्तविक धर्म सदा रहेगा

सार्वभौमिक वा सार्वजनिक धर्म (universal truths) किसी जाति-देश वा वर्ग का विरोधी वा शत्रु नहीं हो सकता। जैसे अकाल-पीड़ित प्रदेश बिहार आदि में भला कोई कह सकता है कि हृदय से पाकिस्तान का भला चाहनेवालों और उसकी ही प्रतिक्षण जय चाहनेवाले मुसलमानों को क्या भारतसरकार अन्न नहीं देती है? धर्मनिरपेक्ष (सैक्यूलर) की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में जनता के समक्ष रखनी चाहिए। धर्मनिरपेक्ष शब्द की जब चाहे जैसी व्याख्या करके जनता से खिलवाड़ नहीं की जानी चाहिए। एक बार यदि धर्म की अपेक्षा छूट गई तो देश के प्रति कर्त्तव्य धर्म के पालन करने की भावना (हिस) जनता से सदा के लिए लुप्त हो जायगी। धर्मनिरपेक्षता का शस्त्र लेकर वही जनता नेताओं को भी अङ्गूठा दिखाने लगेगी कि आपने ही तो हमें धर्म निरपेक्षता का पाठ पढ़ाया। मियाँ की जूती मियाँ की सिरपर—अब आप हमें कर्तव्य-धर्म का उपदेश करने चले हैं। जनता में ऐसी स्थिति पैदा हो जाना

अत्यन्त ही घातक सिद्ध हो सकता है। ऐसी अवस्था भारत को ले डूब सकती है।

अपने प्राचीन वेद-शास्त्रों के प्रति निष्ठा-धर्म में श्रद्धा ही भारत को सब बुराइयों से बचा सकती है। इसके बिना देश के सामने उपस्थित घोर विषमतायें कदापि दूर न होंगी॥

शास्त्र या धर्म का रूप धरना

शास्त्र वा धर्म के नाम पर ही यह आर्य (हिन्दू) जाति किसी भी व्यक्ति वा समुदाय की बात सुनने को तय्यार रही है, तथा रहेगी। सन् १९१९ में जब पूज्य महात्मा गान्धी ने रौलट एक्ट के विरुद्ध व्रत (उपवास) आरम्भ किया, तभी यह आन्दोलन ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में व्यापक हुआ। तभी से कांग्रेस जनता की संस्था बननी आरम्भ हुई। नहीं तो ग्रामों में तो इसे कोई जानता भी न था। जिस किसी ने भी इस हिन्दू जाति को अपने मत में लाना चाहा, उसी ने किसी न किसी ग्रन्थ का निर्माण कर उसे शास्त्र का रूप दिया। बौद्धधर्म में त्रिपिटकों की रचना तथा हिन्दुओं में भिन्न-भिन्न पुराणों-उपपुराणों-स्मृतियों-उपस्मृतियों की रचना में मूलभूत कारण यही रहा॥

और तो और मुसलमान फकीरों ने गेरुआ वस्त्र पहिन साधुओं का वेश धर-धर कर हिन्दू स्त्रियों, विशेषकर विधवाओं का अपहरण कर बंगाल के बहुसंख्यक हिन्दुओं को अल्पसंख्यक में परिणत कर पाकिस्तान बना डाला, जिसकी किसी को कल्पना तक नहीं थी। ईसाई पादरियों ने ईसाई मत के प्रचार के लिए जहाँ बृटिश गवर्नमैन्ट से हर प्रकार की सहायता बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त की, वहाँ क्रिश्चियन पादरियों ने गेरुआ वस्त्र पहिन-पहिन कर अपना नाम बदलकर हाथ में बाइबल लेकर उसे ही ईशुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध किया। ये लोग इस स्वकल्पित वेद को हाथ में लेकर उपदेश देने के लिए खड़े होते थे। और इस बात के सिद्ध करने के लिए कि ईसा एक वेदोक्त अवतार थे, और

ईसाई मत भी एक वेदोक्त मत है, अपने ईशुर्वेद में से कुछ पढ़ते थे। हिन्दू श्रोतागण इस बात को सुनकर कि ईसा और ईसाई शास्त्रोक्त और वेदोक्त हैं, दल के दल इन ईसाई पादरियों के पास आकर दीक्षा लेते थे, और ईसाई मत में प्रविष्ट हो जाते थे।

कहना यह है कि ईसाई और मुसल्मानों ने भी शास्त्र-प्रधान इस आर्य (हिन्दू) जाति को बहकाने के लिए अल्लोपनिषद् और ईशुर्वेद की रचना की। इससे भी यही सिद्ध होता है कि धर्मपरायण आर्य (हिन्दू) जाति धर्म व शास्त्र के आधार पर ही किसी की बात सुनने को तय्यार है। चाहे वह शास्त्र वा धर्म वास्तविक हो या असत्य।

शास्त्रों में मिश्रण

यही कारण है कि महाभारत के पश्चात् हमारे शास्त्रों के साथ-साथ संस्कृत भाषा में भिन्न-भिन्न समयों तथा परिस्थितियों में ऐसी रचनायें भी होती रहीं, जो जनता विशेषकर उस समय के राजा महाराजाओं के लिए शास्त्रों द्वारा उपस्थित होनेवाले प्रतिबन्धों को दूर अथवा ढीला करती रहीं। इसका परिणाम वही हुआ जो ऐसी अवस्था में हुआ करता है। नैतिक पतन की कोई सीमा न रही। एक ही मानवधर्म शास्त्र में एक ओर तो "अहिंसा परमो धर्मः", "आचारः परमो धर्मः" कहा गया। दूसरी ओर उसी में कहा गया—

न मांसभक्षणे दोषों न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

कहीं तो "अहिंसा परमधर्म है, आचार परमधर्म है" ऐसा कहा गया। और कहीं "न मांस भक्षण में दोष है, न मद्यपान करने में, न मैथुन में, यह तो जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। निवृत्ति हो तो अच्छा है" इन सब वचनों द्वारा अनाचारों के लिए छूट देने से इस भारत देश का घोर अधःपतन हुआ। इसी का परिणाम है जो लगभग एक सहस्रवर्ष तक देश विदेशियों के द्वारा पादाक्रान्त रहा।

शास्त्रों के नाम पर, ऋषियों के नाम से ग्रन्थ घड़े गये तथा भिन्न-भिन्न शास्त्रों में बीच-बीच में प्रक्षेप (मिलावट) तक किये गये। सोचने की बात है एक ही मनुस्मृति ग्रन्थ के ३० प्रकार के हस्तलेखों में किसी में सौ दो सौ श्लोक कम हैं, किसी में दो चार सौ अधिक हैं, यह सब क्या है ? रामायण का उत्तरकाण्ड वाल्मीकिकृत नहीं, यह प्रायः सभी मानते हैं। तुलसीकृत रामायण तक में लवकुश का प्रकरण प्रक्षिप्त माना जाता है। कोई व्यक्ति इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि हमारे संस्कृत वाङ्मय में प्रक्षेप नहीं हुआ। भोली-भाली जनता के सामने (जब कि प्रेस नहीं थे) संस्कृत में श्लोक बना-बना कर ग्रन्थों की रचना तथा प्रक्षेप होता रहा। जो-जो पाप-सदाचार-जब जिसको अभीष्ट हुआ तब तब उस उसने यथेष्ट नया ग्रन्थ बना दिया, वा पहिले के बने शास्त्रों में ही डाल दिया जाता रहा। स्मृति ग्रन्थ इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। जब जिससे स्वार्थसिद्धि हुई तब-तब वैसा होता रहा। इस विषय पर सप्रमाण बहुत कुछ लिखने की आवश्यकता है, जिस पर पुनः कभी लिखा जा सकेगा ॥

यहाँ हमें यह दर्शाना है कि शास्त्रों के नाम पर अशास्त्र और धर्म के नाम पर अधर्म—ऋषियों के नाम पर अनर्थकारी व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार की रचनायें संस्कृत साहित्य में विद्यमान हैं, और घोर अनर्थकारी हैं। महिधर का यजुर्वेद भाष्य और ब्राह्मणों के कुछ भाग इस विषय के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसी दशा में यह आर्यजाति रसातल को न प्राप्त होती तो और क्या होता, अतः शास्त्रशुद्धि की परमावश्यकता है ॥

अशास्त्रमिश्रित शास्त्र रोग दूर नहीं कर सकता
शास्त्रशुद्धि की अनिवार्यता

पाठक विचारें कि जिस शास्त्र की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक भाग और प्रत्येक स्तर में पड़ती है, क्या उस शास्त्र को कलुषित होने देना कभी उचित हो सकता है ? विशेषतः जो शास्त्र आर्यजाति की

चिरकाल से आ रही सम्पत्ति रूप हैं, जो आर्यजाति के अपरिहार्य संगी तथा रक्षक हैं, क्या उस शास्त्र को विकृत होने देने से इस देश का कल्याण कभी हो सकता है? जब कि शास्त्रों की अपेक्षा न करने तथा शास्त्रों के अनुसार न चलने से हिन्दुओं का कोई काम, साधारण हो, या असाधारण, उत्तम रीति से सिद्ध नहीं हो सकता, तब शास्त्र को कितने ही अशास्त्रों से मिश्रित करने और उस मिश्रित (मिलावट वाले) शास्त्र को ही शुद्ध शास्त्ररूप में प्रचार करने से हिन्दू (आर्य) जाति को कभी उन्नत किया जा सकता है? जब कि शास्त्र विश्वास और शास्त्र-निष्ठा आर्य (हिन्दू) जीवन का एक अपरिहार्य अंग है। ऐसी अवस्था में शास्त्र के साथ कुशास्त्र को मिलाने और उस मिले हुए पङ्कयुक्त शास्त्र को शास्त्ररूप से प्रतिष्ठित करने से आर्य (हिन्दू) जाति के जीवन को कोई शुद्ध-पवित्र और निःस्वार्थ कर्ममय बनाने में समर्थ हो सकता है?

शुद्ध और उत्तम दूध में मलमूत्र-कीचड़ वा नाली के सड़े जल को मिलाकर पीने से किसी व्यक्ति वा जाति का स्वास्थ्य कभी ठीक रह सकता है?

कोई कहे कि इतने समय से शास्त्ररूपी औषध इस जाति को पिलाई जा रही है फिर भी इस जाति का रोग दूर क्यों नहीं होता? इसमें बेचारे शास्त्र का क्या दोष है। औषध की सारी शक्ति तो बीच में पड़े मलमूत्र या कीचड़ को ही नष्ट करने में लग रही है, औषध का प्रभाव हो कैसे! इसी प्रकार शास्त्रों में अशास्त्ररूपी मलमूत्र के रहते शास्त्र का प्रभाव कैसे होना सम्भव है। शास्त्र तो प्रहरी (चौकीदार) के समान है। व्यक्ति वा जाति में आनेवाले घोरतम दोषों को अत्यन्त स्पष्ट रीति से भीतर घुसने से रोकता है। जहाँ पहिरेदार ही चोरी करने लग पड़े, वहाँ भला चोरी की क्या सीमा! जैसा कि इस समय भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है कि कांग्रेस इस समय हमारे देश की रक्षक है। जब एक कांग्रेसी ही, चाहे वह किसी भी अधिकार पर है, वह कितना भी छोटा वा बड़ा क्यों न हो, यदि घूस लेता है, वा घूस दिलाता है, अपने सगे-

सम्बन्धी वा मित्रों को अनुचित-अन्याय से लाभ पहुँचाता है, किसी राज-कर्मचारी को ऐसा करने के लिए बाधित करता है, तब राज-कर्मचारियों की रिश्वत और व्यापारियों की चोरबाजारी को खुली छूट देना है। हमारी दृष्टि में तो चोरबाजारी के मूलप्रवर्तक यही लोग हैं। चोर को न मारे, चोर की माँ को मारे इनके सुधार से ही देश में सुधार होना सम्भव है। अन्यथा देश रसातल को पहुँचता चला जा रहा है। जो लोग इस समय पदारूढ़ नहीं हैं, वे पदारूढ़ होकर ऐसा न करेंगे, इसमें क्या प्रमाण है? इस घोर भ्रष्टाचार से तो यही प्रतीत होता है कि देशरूपी नौका में पानी भर रहा है, यदि न सम्भली तो एकदम ही डूबेगी। इसी से हम कहते हैं देश का भविष्य अन्धकार में है। प्रभु कृपा करें, सबको सुमति दें। धर्म वा कर्त्तव्यपालन की भावना के बिना यह सब सुधार कदापि न हो सकेगा।

कितना दूषित साहित्य बन रहा है

शास्त्र कर्त्तव्यपालन का निर्देश करता है, अतः उसे तो अत्यन्त विमल-पवित्र वा शुद्ध रहने की आवश्यकता है। अब तक प्रत्येक नगर में छापेखाने (प्रेस) सैकड़ों की संख्या में खुले हैं, जो उटता है, जिसके पास पैसा है, वह जो चाहे छपवा डालता है। भला उसको रोकने वाला कौन है। हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं, जो हिन्दी की चार पंक्तियाँ भी शुद्ध नहीं लिख सकते, पर ऋग्वेद-यजुर्वेद का भाष्य करते हैं, छपवाते हैं। वेदान्त को 'बिदान्त' छपवानेवाले यह महाशय दर्शनों की व्याख्या छापते हैं। प्रेसवालों को पैसा चाहिए, सोचते हैं वह तो कहीं न कहीं छपवायेगा ही, हम ही क्यों न छाप दें। प्रूफरीडिङ्ग के दाम और मिलेंगे। कागजवालों को अपना पैसा चाहिए। उनकी ओर से चाहे काला चोर ले जावे, उन्हें इससे क्या तात्पर्य कि क्या छपता है। बात क्या है? पैसा पास में है, भाँग वा मद्यादि में नष्ट न किया, इधर नष्ट कर दिया। उससे तो फिर भी अच्छा ही कहा जायगा।

इससे तो व्यक्तिगत हानि अधिक होती है, उससे तो समष्टि में सदा के लिए कूड़ाकरकट साहित्य उत्पन्न कर दिया जाता है, जो संसार की दृष्टि से घोर पाप ही कहा जाना चाहिए।

यह तो एक उदाहरण ऐसा दिया जो सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की अनधिकार चेष्टा का उदाहरण है। संस्कृत पढ़े लिखों के विषय में भी यही बात कुछ अंश में भेद से लागू होती है। क्या हम नहीं देख रहे हैं कि उत्तम से उत्तम पुस्तकें यूनिवर्सिटियों के बोर्डों द्वारा सौदा नीति के आधार पर नियत की जाती हैं, और जिसने सदस्यों को अधिक से अधिक घूस दे दी, उसकी पुस्तक चाहे कैसी भी हो, रख दी जाती है। पुस्तक के लाभ में ५०% प्रतिशत तक लेने पर वही पुस्तक स्वीकृत हो जाती है, चाहे वह पहिले अस्वीकृत ही क्यों न हो चुकी हो। जो ऐसा न कर सके वह मुँह ताकता रह जाता है। देनेवाला भी सोचता है, चलो इसमें हमें बैठे-बिठाये दस-बीस हजार का लाभ तो हो ही रहा है। इस पापाचार में तो बड़े-बड़े नेता वा धार्मिक संस्थाओं के संचालक-पदाधिकारी तक बड़ी-बड़ी घूस डकारते सुने जाते हैं। जिसे जान कर देश के भविष्य की शीघ्र ही सुधरने की कोई आशा नहीं। कांग्रेस या आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति भी यदि ऐसा करें, तो इससे बढ़कर दुःख और निराशा की बात क्या हो सकती है? पहिरेदार ही चोरी पर कमर बाँध ले, तो वहाँ चोरी की सीमा क्या रह सकती है !!!

मनुष्यकृत शास्त्र ही अनर्थ का मूल है

मनुष्यप्रणीत शास्त्रों के कारण, धर्म के नाम पर, पवित्रता के नाम पर हिन्दूसमाज में सैकड़ों प्रकार के पाप तथा अनाचार हो रहे हैं, इसीलिए हिन्दूशास्त्र ऐसा चूँ-चूँ का मुरब्बा बन गया है कि इसमें संसार की उत्तम से उत्तम, पवित्र से पवित्र बातें भी मिलेंगी, और निकृष्ट से निकृष्ट भी, जितनी संख्या में चाहें मिल सकती हैं। काशी इसका

ज्वलन्त उदाहरण है। इसमें नैपालियों का बीभत्स से बीभत्स गन्दे नग्न चित्रों का मन्दिर भी है, जिसमें विदेशी नर-नारी तक भीतर घुसते समय अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं। इसी काशी में महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुष का स्तम्भ सारनाथ में है। यही हाल शास्त्रों का हो रहा है। काशी के कुछ घरों में ऐसी-ऐसी बीभत्स पुस्तकें हैं, जिन्हें देखकर लज्जा भी अपना सिर नीचा कर लेगी। क्या यह बात बताने की आवश्यकता है कि मनुष्यकृत ग्रन्थों के विस्तार के कारण ही देश नीति रहित तथा धर्मरहित हो रहा है॥

जिस देश के लोग सुरापान और परस्त्री-गमनादि तक को धर्म के नाम पर चलाने के सङ्कल्प से कागज़-कलम लेकर शास्त्र प्रस्तुत कर सकते हैं और पञ्च मकार (मद्य-मांस-मीन-मुद्रा-मैथुन) नामक अति बीभत्स और निन्दित आचार तक को जिस देश के लोग शिववचन कहकर प्रचारित कर सकते हैं, क्या उस देश में नीति का कुछ भी आदर्श रह सकता है ? अनार्ष शास्त्ररूपी विष ने आर्ष शास्त्ररूपी उपादेय अमृतोपम अन्न के साथ मिलकर उसे विषमिश्रित अन्न में परिणत कर दिया है। पिछले एक सहस्रवर्ष से तो इसमें अत्यधिक विष का मिश्रण हुआ है।

अन्न से मनुष्यों के प्राणों की रक्षा होती है। विषमिश्रित अन्न प्राणों का नाशक है। ऋषियों की सन्तानो ! तुम इस विषमिश्रित अन्न को बहुत समय से भक्षण करते चले आरहे हो, इसलिए तुम जीवित रहते हुए भी आज मृतक समान हो !! भारत का हितचिन्तक नेतृवर्ग इस देश को शिक्षा विज्ञान का विस्तार करके उठाने की चेष्टा कर रहा है। इसके लिए बड़े २ शिक्षाविशेषज्ञ विदेशों से बुलाये जा रहे हैं। बहुत कुछ व्यय भी किया जा रहा है, किन्तु क्या इससे हिन्दू समाज या भारतीय समाज उठ खड़ा होगा ? जिसके शरीर का रक्त दूषित हो गया है, यदि उस पर दिन में दस बार साबुन मलें तो भी क्या उसका कोई उपकार हो सकेगा ? जबसे यह भारत स्वतन्त्र हुआ है, ग्रामों तक में

सैकिण्डरी हाईस्कूलों की भरमार हो रही है। विदेशी आदर्श और विदेशी प्रणाली के अनुसार नगर २ में हाई स्कूल खोले जा रहे हैं। क्या इससे देश जाग उठेगा ? जिसके मस्तिष्क में विकार हो गया है, उसके हाथ में प्रचुर धन देने वा उसे पुष्टिकर घृत-दुग्धादि पौष्टिक भोजन खिलाने से उसका कल्याण कभी हो सकता है ? क्या मलीन वस्त्र पर कभी रंग चढ़ सकता है ? हम पूछते हैं क्या हमारी सरकार द्वारा शिक्षा का ढोल पीटने से रंग चढ़ जायगा ?

कर्मशुद्धि के बिना कोई उन्नति सम्भव नहीं

सच्ची बात तो यह है कि कर्मशुद्धि के बिना न तो जीवन के, न समाज के, न शिल्प-वाणिज्य-कृषि-उद्योग-राजनीति प्रभृति समाज के किसी विभाग की कुछ भी उन्नति सम्पन्न हो सकती है। कर्मशुद्धि के भाव से परिचालित न होकर यदि किसी आत्महितकर या लोकोपकारी वर्ग में मनुष्य की प्रवृत्ति होगी, तो वह कर्म भी याथातथ्य रूप से निर्वाहित न हो सकेगा। इसीलिए हमारी भारत सरकार के सब विभागों के कार्य वा योजनायें लड़खड़ा रही हैं, और लड़खड़ाती रहेंगी। कोई भी विभाग ले लिया जावे, कृषि हो या वाणिज्य-उद्योग हो या शिल्प, अन्न का विषय हो या अर्थ का, हम सबमें अभी तक तो अकृतकार्य ही हो रहे हैं। लगभग ७ अरब रुपया हम अपनी पैतृक सम्पत्ति में से व्यय कर चुके हैं, जो हमें बपौती में अङ्ग्रेजों द्वारा पौण्ड-पावना के रूप में मिली थी। हमने उसे बढ़ाया होता तो हमारी बरखुरदारी होती पर हुआ उलटा, यह समाप्त सा है। जिस किसी विभाग की वृद्धि करने हम जाते हैं, हतोत्साह होकर पीछे हटना पड़ता है। इस सबका प्रधान कारण यही है कि इस देश में जो लोग नेता होने के अभिमान में जेलों में रह कर उठाये कष्टों का मूल्य चुका रहे हैं, उनमें से कुछ एक को छोड़कर कोई व्यक्ति भी कर्मशुद्धि के भाव से

अनुप्राणित होकर किसी साधारण हितकर कार्य में प्रवृत्त नहीं हो रहा। यह सब धर्म तथा शास्त्र में निष्ठा की भावना के विना नहीं हो सकता। कर्म-शुद्धि विना शास्त्र-शुद्धि के हो नहीं सकती।

शास्त्र-शुद्धि से कर्म-शुद्धि सम्भव है

जब तक शास्त्ररूपी अमृत को अशास्त्ररूपी मलमूत्र से पृथक् न किया जायगा, शास्त्र जाति के रोगों को दूर करने में असमर्थ ही रहेगा, यह निर्विवाद है। यह बात भी सहज में ही समझ में आ जाती है कि कर्म-शुद्धि विना ज्ञानशुद्धि के नहीं हो सकती। शुद्ध ज्ञान ही शुद्ध कर्म का जनक है। इसीलिए यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में ज्ञान और कर्म ये दोनों, नदी के दो किनारों के समान एक दूसरे के लिए अनिवार्य बताये हैं। कर्मशुद्धि के विना न तो जीवन के ही समाज के किसी विभाग की उन्नति सम्भव है। इतना ही नहीं, जीवन के भिन्न-भिन्न उपयोगी विषयों में भी कर्मशुद्धि के विना सफलता प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि व्यवहार-शुद्धि की आवश्यकता है तो वह विचारशुद्धि और कर्मशुद्धि के द्वारा ही सम्भव है। विचारशुद्धि शास्त्रशुद्धि पर अवलम्बित है। शास्त्र से ही तो कर्त्तव्य-सम्बन्धी निश्चय होगा कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं? शास्त्रशुद्धि विचारशुद्धि का मूल है, विचारशुद्धि आगे व्यवहारशुद्धि का मूल है, अतः व्यवहारशुद्धि के लिए शास्त्रशुद्धि अनिवार्य कारण है। कर्मशुद्धि के भाव से अनुप्राणित नेता ही देश का कल्याण कर सकते हैं। कर्मशुद्धि के मार्ग पर चलकर ही जाति तथा देश का कल्याण होना सम्भव है। जब तक हिन्दुओं का मन चेष्टा-भाव-शुद्ध-संयत और उन्नत होकर सत्-महत्-कल्याणकर कर्मपरायणता की सृष्टि न करेगा, तब तक हिन्दुओं के उद्धार की कोई आशा नहीं। यह ध्रुव सत्य है। इसीलिए शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र के बिना यह सब कदापि नहीं हो सकता, इसलिए कर्मशुद्धि की परमावश्यकता है।

इस पतनोन्मुख जाति के उठाने में हिन्दुओं के शास्त्र की शुद्धि ही

अपरिहार्य रूप से आवश्यक है। शास्त्रशुद्धि ही भारतवर्ष के सुधार की एकमात्र अभ्रान्त प्रणाली है। यह निर्भ्रान्त सत्य है ॥

इस युग में शास्त्र-शुद्धि के प्रवर्त्तक दण्डी विरजानन्द और दयानन्द

शास्त्रशुद्धि का यह रामबाण इस युग में महान् आत्मा दयानन्द सरस्वती ने हमारे सामने रखा। आर्ष और अनार्ष का भेद और उसकी कसौटी ही हमारे सामने नहीं रखी, अपितु अमृत और विष दोनों को जो एक ही ढेर में पड़े थे, पृथक्-पृथक् करके संसार के सामने रख दिया। मनुष्यकृत और ऋषिकृत का विवेचन जैसा ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में किया है, ऐसा कहीं नहीं मिलेगा। आर्षग्रन्थों का जितना महान् गौरव ऋषि ने दर्शाया, उतना किसी ने नहीं दर्शाया। इतना ही नहीं, अपितु इसका महान् विस्तार और प्रचार करनेवाला इस युग में महापुरुष ऋषि दयानन्द हुआ, जिसकी ज्योति उन्हें अपने महान् गुरु (दयानन्द ही के निर्माता) दण्डी मुनिवर विरजानन्द से मथुरा में मिली।

दूसरे शब्दों में प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने विश्वनियन्ता, निश्चेष्ट न रहनेवाले, विधाता की प्रेरणा से ही, भारत के सुधार की यथार्थ और एकमात्र प्रणाली समझकर, इस ऋषिप्रणाली का अवलम्बन किया।

दण्डी विरजानन्द और दयानन्द की यह सूझ भारत का कल्याण कहाँ तक कर सकती है, यह तो भविष्य ही बतायेगा। जब तक आर्यसमाज इस मार्ग पर पूर्ण श्रद्धा-उत्साह-और तत्परता से नहीं आवेगा, तब तक इस प्रणाली का उद्धार नहीं होगा, भारत के अन्य समुदायों से इसकी आशा रखना दुराशामात्र है।

अब आगे हम यह बतावेंगे कि ऋषिप्रणाली की यह सूझ दण्डी विरजानन्द और उनके शिष्य दयानन्द सरस्वती की अपनी ही कल्पना-

मात्र नहीं है, अपितु परम्पराप्राप्त है, चाहे उसकी रेखा कितनी भी धुंधली रही हो, वा बीजरूप में रही हो। इसमें एक यह भी कारण हो सकता है कि इस काल में देश अनार्षता की ओर घोर तीव्रता से जा रहा है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है।

इसमें भी दो प्रकार से विचार करना होगा। एक तो आर्ष (ऋषियों की अपनी रचना) ग्रन्थ कौन-कौन से हैं और अनार्ष ग्रन्थ कौन-कोन से हैं, यह विश्लेषण हमें करना होगा। ऐसा करके भी आगे हमें यह भी निर्धारित करना होगा कि आर्षग्रन्थों (जो परतः प्रमाण हैं, अर्थात् जिनका परीक्षण हमें वेद के आधार पर ही करना होगा, क्योंकि आर्यजाति का सर्वमान्य स्वतःप्रमाण तो वेद ही हैं) का भी परीक्षण, निरीक्षण, विवेचन करना होगा, कि उनमें भी कहाँ तक और कितना प्रक्षेप हो चुका है। तभी हम ऋषिमुनियों के वास्तव विचार-धारा पर पहुँच सकते, और उनकी धारणाओं से लाभ उठा सकते हैं। नहीं तो अमृत के साथ में हम विष का ग्रहण भी अपनी अज्ञानता से कर सकते हैं। यद्यपि ऋषि दयानन्द ने अपने आराध्य गुरुचरण दण्डी विरजानन्द जी से प्राप्त वह कसौटी हमें दे दी है कि आर्ष अनार्ष की कसौटी क्या है। पर यदि ऋषि दयानन्द जैसा महापुरुष हमारे लिये इतना और कर जाते कि इन आर्ष ग्रन्थों में प्रक्षेप का, वेद-विरुद्ध बातों का निर्देश कर जाते, तो यह आर्यजाति के महान् सौभाग्य की बात होती। अब क्या हो सकता है, होना चाहिये, यह सोचना तो आर्यसमाज का कर्त्तव्य है।

आर्यसमाज के कर्णधारों का ध्यान इन मौलिक बातों की ओर तो आकृष्ट ही नहीं होता, या उन्हें इस विषय में गति नहीं, हमारे प्रयास और कष्ट उठा कर किये गये समारोह भी बाह्यप्रदर्शन मात्र तक ही सीमित रह जाते हैं। आर्यसमाज जैसे विचारशील समुदाय के लिए यह बहुत सोचने की बात है।

क्या हम स्वयं—हमारी सन्तति वा हमारे आश्रित, सदा हमारी प्रायः सब संस्थायें चाहे वे पुत्रों की हों या पुत्रियों की, गुरुवर विरजानन्द तथा ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित ऋषिग्रन्थों से कितने दूर हैं। यदि दण्डी विरजानन्द इस समय जीवित होते, तो अनार्ष ग्रन्थों रूपी कीचड़ में डूबे हम आर्यों को क्या वह अपनी दहलीज में भी पाँव रखने देते ? दस्तक देने पर क्या हमारे लिये अपना दरवाजा अन्दर से खोलते ? क्या हमें निराश होकर मथुरा से खाली लौटना न पड़ता ? क्या यह प्रत्येक आर्यबन्धु की गर्दन नीची होगी कि नहीं ? मैं तो जब इस बात को सोचने लगता हूँ तो हृदय एकदम क्षुब्ध हो उठता है कि क्या हमारे इन महापुरुषों की तपस्या व्यर्थ ही जायगी क्या * !!!

विरजानन्द का सच्चा स्मारक

तो यही है कि हम सर्वप्रथम स्वयं ऋषि ग्रन्थों का अध्ययन करें, यह न सोचें कि हमारी आयु अधिक हो गई है, हम नहीं कर सकते।

यदि हम परिस्थितियों वश नहीं ही कर सकते, तो हमारे पुत्र-पुत्री तो ऋषिग्रन्थों का अध्ययन करें। हमें अपनी सभी संस्थाओं को बाधित करना चाहिए कि वे अनिवार्यतया ऋषिग्रन्थों को ही पढ़ावें, और अलाय बलाय (अनार्ष) के लिए तो स्कूल कालेज खुले ही हैं। कम से

---

* शास्त्रशुद्धि का सिद्धान्त समझ में आ जाने पर आगे अभी बहुत कुछ विचारने की बातें रह जाती हैं। ऋषि दयानन्द ने जो आर्ष-अनार्ष का विवेचन किया है, इन पर भी एक-एक को लेकर विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, यह सब हम कालान्तर में करना चाहते हैं। हो सका तो वेदवाणी में इस विषय पर शेष विचार उपस्थित किये जायेंगे। पाठक इस विषय में अपने विचारों से अवगति करावें तो और अच्छा हो॥

कम अपने एक पुत्र और एक पुत्री को तो आर्ष प्रणाली से ही पढ़ावें, वह भूखा मरेगा, सो बात नहीं ! जीवन में सादा और सुदृढ़ रहकर वह अपना निर्वाह अवश्य कर सकता है ॥

यह प्रेरणा हम मथुरा के इस शताब्दी समारोह से गुरुवर विरजानन्द और ऋषिदयानन्द की स्मृति से प्रसाद लेकर जावें ।

धियो यो नः प्रचोदयात् !!!

प्रभु हम सबको सुमति प्रदान करें ॥

—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

"जितनी विद्या इस रीति से बीस वा इक्कीस वर्षों में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती ।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिये पढ़ना चाहिये कि वे बड़े विद्वान् सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे, और अनृषि अर्थात् जो अल्प शास्त्र पढ़े हैं, और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुये ग्रन्थ भी वैसे ही हैं ॥"

ऋषिदयानन्द (स० प्र०)

श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रकाशन

१—सन्ध्योपासनविधि—ऋषि दयानन्दकृत मूल्य -)
२—हवन-मन्त्र—प्रार्थना-स्वस्तिवाचनादि सहित। मूल्य -)
३—पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत। मूल्य ≡)
४—आर्याभिविनय—ऋषि दयानन्दकृत मूल्य ।=)
५—आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत। मूल्य -)
६—व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्दकृत। मू० =)॥
७—ऋषि दयानन्द का स्वलिखित-स्वकथित आत्मचरित्र—मू० ॥)
८—वैदिक ईश्वरोपासना—ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य ≡)
९—उरुज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म-सुधा— मूल्य सजिल्द २)
१०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन— मू० ७)
११—ऋषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन का परिशिष्ट— मू० ॥।)
१२—अष्टाध्यायी मूल (सूत्रपाठ)—अत्यन्त शुद्ध पाठ। मूल्य ॥=)
१३—वेदार्थप्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त–पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु मू० ≡)
१४—ऋग्वेद-भाषाभाष्य–प्रथम भाग मूल्य २॥)
१५—वैदिक वाङ्मय का इतिहास–प्रथम भाग, लेखक—श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर। मूल्य १०)
१६—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास—लेखक–श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। सजिल्द ४), अजिल्द ३)
१७—क्षीरतरङ्गिणी—धातुपाठ की प्राचीनतम व्याख्या। मू० १२)
१८—वैदिकस्वर-मीमांसा– ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू० ३)
१९—वैदिक-छन्दोमीमांसा—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू० ४॥)

रामलाल कपूर एण्ड सन्स लि० पेपर मर्चेण्ट

गुरु बाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। ५१ सुतार चॉल, बम्बई
बिरहना रोड, कानपुर। वेदवाणी कार्यालय, वाराणसी–६।

संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि

[संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण]

बिना रटे संस्कृत और उसके व्याकरण का आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान ६ मास में अष्टाध्यायी पद्धति से कैसे किया वा कराया जा सकता है, इस विषय की जो लेखमाला क्रमशः 'वेदवाणी' में प्रकाशित हो चुकी है, अब वह पृथक् पुस्तक रूप में भी छपकर तैयार हो गई है। इस पद्धति के प्रवर्तक पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अनेक संस्कृत पठनार्थियों, नेताओं तथा विद्वानों के आग्रह से पढ़ने-पढ़ाने वाले दोनों की दृष्टि से यह लिखी है। आरम्भ में ४० चालीस (प्रतिदिन के) पाठ पढ़ने-पढ़ाने की विस्तृत विधि सहित लिखे गये हैं। आगे ५ मास का क्रम भी निर्धारित कर दिया है। हिन्दी का ज्ञाता, इस ढङ्ग से पढ़ने वाला इस पुस्तक को छोड़ कभी नहीं सकता, यह इतनी आकर्षक है। १२ वर्ष के स्थान में ४ वर्ष में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अध्ययन द्वारा व्याकरण के पूर्ण ज्ञान की पद्धति का प्रतिपादन भी इसमें किया गया है।

इसकी विशेषता यह है कि कई वर्ष तक परीक्षण और अनुभव करने के पश्चात् ही यह लिखी गई है। इस पद्धति के प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान में भी प्राप्त हैं। इस पद्धति के विषय में काशी के विद्वानों में आश्चर्य हो रहा है और बहुत हलचल मच रही है। संस्कृत-प्रेमी प्रत्येक भारतीय को यह पुस्तक एक बार अवश्य पढ़नी चाहिए।

पुस्तक का आकार पहले से काफी बढ़ गया है। कई नवीन स्थल लिखे गये हैं। अतः यह उनके लिए भी संग्रहणीय है, जिनके पास प्रथम संस्करण है। पुस्तक का मूल्य लागत मात्र १।)

मुनिवर गुरु दण्डी विरजानन्द
की
धारणा वा अभिलाषा

जयपुर के महाराज रामसिंहजी से दण्डीजी ने कहा—

"हे नर-पञ्चानन ! आप सार्वभौम वैयाकरण महासभा की आयोजना करें। आपके पूर्वपुरुष ने अश्वमेध यज्ञ किया था। अतः आप ही प्रस्तावित सभा के अधिकारी हैं। समस्त भारतवर्ष के पण्डितों को निमन्त्रित कीजिये। उनके उपस्थित होने पर आपके समक्ष सिद्ध कर दूँगा कि सिद्धान्तकौमुद्यादि अनार्ष ग्रन्थ सर्वथा अपाठ्य हैं, और अष्टाध्यायी, महाभाष्यादि आर्षग्रन्थ मात्र अध्येतव्य हैं। इन्हीं के अध्ययन वा अध्यापन से राजा-प्रजा दोनों का कल्याण होगा। हम दो घण्टे में सबको निश्चय करा देंगे। जो राजा आर्षग्रन्थ पठन-पाठन प्रवृत्त करा देगा, वह सार्वभौम महाराज होगा। आपको विजय-पत्र दिलवा देंगे। आपका तीन लाख रुपया व्यय होगा, पर जगत् में आपकी अक्षयकीर्त्ति रहेगी ॥"

(गुरुवर) दण्डी विरजानन्द

मुद्रक—ज्योतिष प्रकाश प्रेस, कालभैरव मार्ग, वाराणसी।